प्रकाशक :

मन्त्री, पुस्तक-प्रकाशन विभाग
श्री तिलोकरत्न स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड,
पाथर्डी (अहमदनगर)

प्रथम संस्करण	- - - - -	१०००.
वीर संवत्	- - - - - -	२४७८.
वीक्रम संवत्	- - - - -	२००६.
मूल्य	- - - - - -	आठ आने

मुद्रक :

श्री जालमसिंह मेड़तवाल द्वारा
श्री गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस,
ब्यावर।

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्री ति० र० स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी की विद्वत्परिषद् ने बेलापुर रोड़ की बैठक में बोर्ड द्वारा प्रकाशित 'नवतत्त्व' को धर्मभूषण और विशारद परीक्षा के पाठ्यक्रम मे निर्धारित किया। 'नवतत्त्व' पुस्तक के अनेकों संस्करण विभिन्न प्रकाशन संस्थाओं द्वारा प्रकाशित होकर बाहर निकल चुके हों, ऐसी स्थिति में पाथर्डी बोर्ड द्वारा 'नव-तत्त्व' प्रकाशित कराने में विद्वत्परिषद् के दृष्टिकोण में कौन-सी आवश्यकता प्रतिभाषित हो रही थी, उसका वास्तविक परिचय इस 'नवतत्त्व' को देखने से ही मिल सकता है। 'नवतत्त्व' की प्राकृत गाथाओं का भाव विस्तारपूर्वक छात्रों को समझाने का प्रयत्न इसके गम्भीर लेखक ने किया है। प्राकृत की संस्कृत छाया, अर्थ, और आवश्यकतानुसार सारांश, टिप्पणी तथा विशेष विवरण लिखकर ग्रन्थ का अन्तर्गत आशय किस प्रकार और किस हद तक स्पष्ट कर दिया गया है, इसका साक्षी पाठकों का अन्तःकरण ही होगा।

परिषद् के निर्णयानुसार बोर्ड के भूतपूर्व रजिस्ट्रार स्व० पं० राजधारीत्रिपाठी शास्त्रीजी ने दीर्घ प्रयास करके इस पुस्तक को थोड़े ही दिनों में लिखकर तैयार कर दिया था, परन्तु इसका संशोधन होकर प्रकाशन विभाग के हाथ में यह कार्य जाने के पहले ही माननीय शास्त्रीजी का स० २००६, श्री महावीर-जयंति के दिन आकस्मिक देहावसान हो जाने से यह कार्य कुछ दिन के लिए स्थगित हो गया। उस समय प्रवेश परीक्षोपयोगी पाठ्य-पुस्तक का प्रकाशन कार्य चल रहा था उसे पूर्ण करके प्रथमा परीक्षा के पाठ्यग्रन्थ भाग १-२ का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया और इसमें 'नवतत्त्व' का संशोधन कार्य भी होता रहा। इस प्रकार पिछले वर्षों में सोलह सतियाँ प्रथमा परीक्षा का पाठ्य-ग्रन्थ भाग १-२ और इस वर्ष 'जैनतत्त्व दीपिका' का प्रकाशन पूर्ण कर 'नवतत्त्व' का प्रकाशन कार्य हाथ में लिया गया। स्वर्गीय शास्त्रीजी द्वारा संगृहीत 'जैन प्रश्नोत्तर प्रकाशित होकर छात्रों के पास पहुँच ही चुका है, उस पर से शास्त्रीजी को छात्रों के अन्तःकरण और धारणा शक्ति की अचूक कल्पना थी और छात्रों के लिए उपयुक्त ग्रन्थ तैयार करने मे वे कितनी सावधानी रखते थे इसका अनुमान किया जा सकता है। श्रद्धेय शास्त्री-जी जिस कार्य को हाथ में लेते थे उसे पूर्ण करने में तन-मन से जुट जाते थे। उनका यह गुण छात्रों के लिए भी अनुकरणीय है। धार्मिक परीक्षा बोर्ड, श्री वर्द्धमान जैन धर्म शिक्षण प्रचारक सभा, श्री अमोल जैन सिद्धान्तशाला, श्री रत्न जैन पुस्तकालय आदि पाथर्डी की पारमार्थिक संस्थाओं का कार्यभार

सम्भालते हुए स्वर्गीय शास्त्रीजी ने जो एक महती आवश्यकता की पूर्ति की है, उसके लिए उनकी पवित्र आत्मा का जितना भी आभार माना जाय वह थोड़ा ही है।

श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के उपाचार्य श्री जी श्री श्री १००८ प्रखर तत्त्ववेत्ता, समाजभूषण श्री गणेशीलालजी महाराज ने नवतत्त्वों की व्याख्या के लिए महत्त्वपूर्ण पथ-प्रदर्शन किया है, इस परम उपकार के लिए नत मस्तक से आप श्री का आभार मानते हुए कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

पंडित रत्न (पूज्य श्री) वर्तमान में श्री वर्द्धमान स्था० जैन श्रमण सघ के प्रधान मत्री १००८ श्री आनन्दऋषिजी म० ठाणा ६ और महासतिजी श्री १००५ श्री रंभाजी म० विदुषी महासतिजी, श्री सुमतिकुंवरजी महाराज आदि ठाणा ५ का चातुर्मास सं० २००४ का वेलापुर रोड़ जिला अहमदनगर में हुआ था। उस चातुर्मास मे भुसावल निवासी शास्त्रानुभवी विद्वान् श्रावक श्रीमान् सागरमलजी ओस्तवाल कुटुम्ब सहित लगभग तीन माह तक पूज्य श्री जी की सेवा में रहे थे। उस समय पूज्य श्रीजी तथा महासतीजी श्री सुमतिकुँवरजी म० एवं भाई सागरमलजी ने अपना बहुमूल्य समय देकर इस 'नवतत्त्व' पुस्तक की लिखित कापी का सूक्ष्म दृष्टि से आमूल अध्ययन कर कई स्थानों पर परिवर्तन एव परिवर्द्धन किया। इस महत्त्वपूर्ण संशोधन के लिए बोर्ड का पुस्तक-प्रकाशन विभाग पूज्य श्री जी, महासतीजी और भाई सागरमलजी का सदैव आभारी रहेगा।

पुस्तक की शुद्ध प्रेस कापी लिखने में साहित्याचार्य, साहित्य-विशारद, जैन सिद्धांत प्रभाकर पं० विक्रमादित्य त्रिपाठीजी ने जो परिश्रम किया है उसके लिए पंडितजी को हार्दिक धन्यवाद है।

पुस्तक प्रेस में जाने के पहले कानोड़ निवासी पं० पूर्ण-चन्दजी दक ने इसका अवलोकन करके तात्विक विवेचन पर समाधान व्यक्त किया है। भूमिका सहित पुस्तक का अध्ययन करने में आपने अपना अमूल्य समय दिया इसके लिए आप शतशः धन्यवाद के पात्र हैं।

मन्त्री,

पुस्तक-प्रकाशन विभाग

भूमिका

आदरणीय जिज्ञासुवृन्द ! किसी भी दर्शन या सिद्धांत का अध्ययन करने के पहले उसकी पदार्थ व्यवस्था को अच्छी तरह जान लेना अतीव आवश्यक है, क्योंकि उस दर्शन-रूपी भव्य भवन का पदार्थ विभाग ही आधारभूत स्तम्भ माना गया है। जिस दर्शन में पदार्थों की व्यवस्था जितनी दीर्घ दृष्टि से की गई होगी, वह दर्शन उतना ही मौलिक, सत्य और तथ्यपूर्ण होगा।

पदार्थ के स्थान पर जैन दर्शन में 'तत्त्व' इस शब्द का का प्रयोग किया जाता है। तत्त्व शब्द का लाक्षणिक अर्थ 'वस्तु' और व्युत्पतिजन्य अर्थ 'वस्तुस्वरूप' ऐसा होता है, क्योंकि तत् शब्द से वस्तु या पदार्थ को ग्रहण किया जाता है और त्व प्रत्यय से उसका 'स्वरूप' यह अर्थ संगठित होकर तत्त्व शब्द का समुच्चय अर्थ वस्तुस्वरूप ऐसा होता है। ये वस्तुस्वरूप मात्र जानने योग्य होते हैं। अर्थ क्रियाकारित्व जो वस्तु का लक्षण है, वह जीव अजीव आदि पदार्थों में रहता है। इसीलिए नवतत्त्वों का नाम निर्देश करने के पश्चात् 'नवतत्ता हुंति नायव्वा' अर्थात् ये नवतत्त्व जानने योग्य हैं, ऐसा उल्लेख किया गया है।

जैन दर्शन में जिन नवतत्त्वों के नाम बतलाये गये हैं उनमें मौलिक भेद वाले जीव अजीव तत्त्व स्वतन्त्र द्रव्य हैं और शेष तत्त्व इन दोनों के सम्मिश्रण या विभाजन से बने हुए इनके ही पर्याय हैं, परन्तु पर्यायरहित द्रव्य और द्रव्यविरहित पर्याय नहीं रहते इस लिए जीव अजीव तत्त्व द्रव्यरूप और शेष सात तत्त्व पर्यायरूप होने पर भी नवो तत्त्व उभयात्मक ही होते हैं। तथा च 'द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु' अर्थात् वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होती है, यह लक्षण जीव अजीव आदि सभी पदार्थों के लिए घटित होता है।

स्वभावतः पारस्परिक विरोध होते हुए भी जीव और अजीव द्रव्य आपस में कैसे सम्मिलित होते हैं और किन कारणों से इनका पुन. पृथक्करण हो जाता है, इसको बतलाते हुए नवतत्त्वो के संक्षिप्त स्वरूप का दिग्दर्शन यहाँ करा देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

जीव-अजीव का सम्मिलन : षड्द्रव्यात्मक लोक के अन्दर क्रियाशील द्रव्य जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय-परमाणु-पुद्गल ये दो ही माने गये है। इन दोनों द्रव्यों में एक ऐसी स्वाभाविक शक्ति होती है जिसके जरिये धर्मास्तिकाय के सहारे से एक समय जितने सूक्ष्मकाल में भी लोक के एक भाग से दूसरे भाग तक सचार करने में ये दोनों ही द्रव्य समर्थ होते हैं। इनमें संसारी जीव अनादिकाल से राग द्वेषरूप भाव कर्म और ज्ञानावरणीय आदि आठ द्रव्य कर्मों से बँधे हुए होते है। जिस समय इस जीवात्मा के अन्दर राग द्वेषपूर्वक कषाय मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों का उठाव होता है उस वक्त आत्म-प्रदेशों में एक ऐसा परिस्पन्दन होता है जिसके प्रभाव से लोक में सचार

करते हुए कर्मवर्गणा के योग्य परमाणु पुद्गल जीव के शुभा-शुभ अध्यवसायों के अनुसार आकृष्ट होकर लेश्याओं के कारण आत्म-प्रदेशों के साथ बध जाते है और तब जीव-अजीव के प्रदेश-परमाणुओं का गाढ़ सम्मिलित होकर क्षीर-नीर के समान परस्पर में सम्मिश्रण हो जाता है। इन बधे हुए पुद्गलों की 'कर्म' यह शास्त्रीय सज्ञा है। इन कर्म पुद्गलो को अपनाने में जीव स्वय निमित्त-बनता है, इसलिए इसको शुभाशुभ कर्मों के प्रति स्वतन्त्र रूप से कर्त्ता बताया गया है।

जीव से अजीव का पृथक्करण

जैसे राग-द्वेषरूप विभाव गुणों के कारण आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों का बन्ध होता है वैसे ही आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास होने पर उससे कर्मों का पृथक्करण भी होता है। इस पृथक्करण की चरमावस्था का ही नाम मोक्ष है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार होती है—आत्मप्रदेशों के साथ संबध करने के लिए कर्म पुद्गल जिन निमित्तो से आते हैं उन निमित्तों को कर्मों के प्रवेशद्वार (आस्रव) कहते हैं। अनादिकाल से इन कर्मों की परतन्त्रता मे पड़े हुए इस जीवात्मा का जब तक उदय काल आता है तब अपने स्वाभाविक गुणो के विकास की तरफ इसकी दृष्टि जाती है। और सर्व प्रथम नवीन कर्मों के आगमन मार्ग इन्द्रियो का बहिर्मुख होना, कषायो का बार-बार उदय होना और व्रत प्रत्याख्यान नहीं स्वीकारना तथा मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण नही रखना इत्यादि दुष्प्रवृत्तियों को अवरुद्ध करने की तरफ इसका लक्ष पहुँचता है। पश्चात् सावधान होकर इन्द्रियों को अन्तर्मुख करता है और कषायो के परिणाम को सोचकर उनको निष्फल बनाता है तथा व्रत नियमों

का धारण व पालन करता है और मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखता है इस प्रकार नूतन कर्मों का प्रवेश-द्वार बन्द हो जाता है। तत्पश्चात् अनेक प्रकार की तपस्याओं द्वारा पूर्व प्रविष्ट कर्मदलिकों के रस भाग को शुष्क बना कर निर्गमन द्वार (निर्जरा) से बाहर निकलना शुरु करता है और क्रमशः शुक्ल ध्यान की उच्चतम श्रेणी पर चढ़ कर राग-द्वेष तथा महा मोहरूपी अजेय शत्रु पर भी विजय प्राप्त कर यह जीवात्मा परमात्मा का रूप धारण कर लेता है जो इसका स्वाभाविक स्वरूप होता है।

नवतत्त्वों के स्वरूप और उनकी पहचान

जीव-अजीव तत्त्व : जिसमें उपयोग हो उसे जीव कहते हैं। उपयोग के भेद शास्त्रों में साकार और निराकार रूप से दो तरह के बतलाये गये है। साकार उपयोग ज्ञान है और निराकार उपयोग दर्शन। ज्ञान से अज्ञान को भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार मति आदि पाँच ज्ञान तथा मति अज्ञान आदि तीन अज्ञान और चक्षुदर्शन आदि चार दर्शन मिलकर बारह उपयोग कहलाते हैं। संसार मे रहते हुए एकेन्द्रियादि समुच्चय जीवों में समुच्चयरूप से बारह ही उपयोग पाते हैं। सिद्ध जीवो मे भी केवल ज्ञान, केवल दर्शनरूप दो उपयोग होते ही हैं। अतः उपयोग यह लक्षण सभी जीवों में सम्यक्तया घटित होने से जीव का लक्षण उपयोग माना गया है। जिसमें उपरोक्त बारह उपयोगों में से एक भी उपयोग न मिले अर्थात् जो न किसी तरह से देखने की शक्ति रखता हो और न किसी प्रकार का ज्ञान ही उसमें सम्भव हो उसे अजीव कहते हैं। षड्द्रव्यो में जीवास्तिकाय यह एक द्रव्य जीव तत्त्व में और

शेष धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, कालद्रव्य और पुद्गलास्तिकाय ये पाँच द्रव्य अजीव तत्त्व में आते हैं।

पुण्य-पाप : जिससे जीवात्मा को शुभ फल की प्राप्ति हो और जो आत्मा को पवित्र करे उसे पुण्य कहते हैं। परोपकार बुद्धि से परमार्थतः आत्महित के लिए जो शुभ अनुष्ठान किये जाते हैं उससे यह जीव इस लोक और परलोक मे सुख का अनुभव करता हुआ क्रमशः आत्म-शुद्धि की तरफ प्रगतिशील बनता है इसलिए शुभ क्रियाएँ तथा शुभ फल को देने वाली कर्म प्रकृतिय और आत्मा के शुभ अध्यवसाय ये सब पुण्य कहलाते हैं। दुस्तर ससार-सागर मे पार होने जैसे विकट कार्य में पुण्यानुबन्धी पुण्य एक महान् यान के समान जीवात्मा के लिए उपयुक्त होता है। पुण्य को जलयान की उपमा देने का आशय यह है—जैसे यानारूढ़ व्यक्ति अगाध जलराशि को पार कर लेने पर उस यान से पृथक् होकर अपने इष्ट स्थान पर चला जाता है, वैसे ही संसार सागर तितीर्षु प्राणी पुण्य के सहारे संसार को परित्त कर इससे पार होने पर पुण्य से भी पृथक् होकर अपने अभीष्ट स्थान मोक्षरूपी पवित्र धाम को चले जाते हैं।

पापतत्त्व पुण्यतत्त्व से बिल्कुल विपरीत है। पाप से जीव को अशुभ फल की प्राप्ति होती है, आत्म परिणामों मे अपवित्रता आकर पतन की तरफ प्रवृत्ति होती है और इस भवसिन्धु में बार-बार गोते लगाते हुए जन्म जरा व्याधि और मृत्यु की चौकड़ी में जकड़ कर उसके जटिल जाल से बाहर निकलना पाप प्रवृत्त जीवों के लिए असम्भव हो जाता है। पुण्य और पाप के स्वरूप को समझने के लिए इन परिभाषाओ को सदैव ध्यान में

रखना चाहिए—जो इस भव और परभव मे सुखदायक हो वह पुण्य और जो उभयत्र दुःखदायक हो वह पाप, तथा जिससे स्वयं और दूसरे भी सुखी बनें वह पुण्य और जो दोनों के लिए कष्टकारक हो वह पाप, प्रशस्त कर्म पुण्य और निन्द्य कर्म पाप है, पुण्य आत्मा को हलका बना कर भवाब्धि को तिर जाने में सहायता देता है और पाप उसको गुरुतम बना कर नीचे डुबाने में कारण बनता है, पुण्य कर्म बांधने मे कुछ कठिन परन्तु भोगने में सरल तथा मधुर फलप्रद होता है और पाप कर्म बांधने में सरल परन्तु भोगने में अति कठोर तथा कटु फलदायक होता है ।

आस्रव और संवर : इस जीवात्मा को अनादिकालीन भवप्रवाह मे बहाते रहने का काम आस्रव द्वारा होता चला जा रहा है। कर्म पुद्‌गलों का आत्मप्रदेशो में प्रवेश कराने वाला यही एक मात्र द्वार है। जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी जल भरने के लिए नालियों की उपमा इस आस्रव द्वार को दी जाती है, और आस्रव द्वार का निरोध करना ही संवर कहलाता है। जैसे तालाब में आते हुए जल के मार्ग पर पाल बांध देने से नवीन जल का आना बन्द हो जाता है उसी प्रकार नियत काल तक या यावज्जीवन के लिए मन, वचन, काय की दूषित प्रवृत्तियो को रोकने से नये कर्मो का बन्धन होना रुक जाता है। आस्रव द्वार को पूर्ण रूप से रोकने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है–आस्रव दो प्रकार के होते हैं १–शुभ आस्रव और २–अशुभ आस्रव दूसरे शब्दो में प्रशस्त और अप्रशस्त आस्रव भी कह सकते हैं। एक अपेक्षा से इन्हीं को पुण्य और पाप भी कहते हैं। इन दोनों मे से पहले अशुभ आस्रव के निरोध का प्रयत्न किया जाता है और बाद में शुभ का। जैसे किसी जलप्रवाह को रोकने के लिए

उस पर पाल या पुल बाँधना हो तो पहले उस जल को बहने के लिए थोड़ा-सा मार्ग खुला छोड कर अन्य भाग को बाँध लिया जाता है और जब मुख्य भाग अच्छी तरह बाँध लिया जाता है तब उस अवशिष्ट भाग को भी बाँधना आसान हो जाता है उसी प्रकार पहले अशुभ प्रवृत्तियों को रोक कर शुभ की तरफ प्रवृत्ति चालू कर दी जाती है और बाद में शुभ प्रवृत्ति से भी निवृत्त होकर सम्पूर्ण आस्रव द्वार का अवरोध कर दिया जाता है।

निर्जरा : आत्मप्रदेशों से संलग्न कर्म अपना फल देकर स्वयं निवृत्त हो जाते हैं यह कर्म पृथक् होने का एक प्रकार है जो प्राप्त स्थिति के अनुसार होता है, इसमें जीव को अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पडती, परन्तु जो जीव कर्म पुद्गलों को आत्मा से पृथक् करने के लिए पुरुषकार पराक्रम का प्रयोग करते है उनके आत्मीय विविध प्रयोगों को ही निर्जरा कहते हैं। निर्जरा अकाम और सकाम भेदों से दो प्रकार की कही गई है। परिस्थिति के अनुरूप भूख, प्यास आदि सहन करने से कुछ कर्म हल्के होते हैं, उसमे निर्जरा की कामना नहीं रहती है इसलिए, उसको अकाम निर्जरा कहते हैं, और कर्म-मलों को दूर करने की दृष्टि से आत्मा को तपाने के लिए इच्छापूर्वक तप किया जाता है उससे कर्मों की जो निर्जरा होती है उसे सकाम निर्जरा कहते हैं। निर्जरा से आत्मा की स्वाभाविक शक्ति का विकास होता है, कारण कि ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण ढीला पड़ता जाता है त्यों-त्यों आत्मीय ज्योति का प्रकाश प्रकाशित होने लगता है।

बन्ध : मलयुक्त खनिज स्वर्ण के समान यह जीव भी अनादिकाल से कर्मबद्ध अवस्था में पड़ा हुआ है। मिथ्यात्व

प्रमाद, अविरति, कषाय और योग इसके सहचर बने हुए हैं। इनके कारण अभिनव कर्म आत्मप्रदेशो के साथ सतत संलग्न हो रहे हैं उसे बन्ध कहते हैं। इस बन्ध के कारण ही आत्मा की अनन्तज्ञानादि शक्तियाँ उन कर्मों के आवरण से आवृत्त होकर पराभूत-सी हो गई हैं। अष्ट रुचक प्रदेश के सिवाय अन्य सभी प्रदेश आत्मीय अध्यवसायानुसार गाढ़ या हल्के आवरण से आवृत्त होते रहते हैं—अक्षरलब्धि का अनन्तवां भाग खुला रह जाता है जिससे उदयकाल आने पर पुन. विकास की तरफ जीव की प्रवृत्ति होती है। आत्मसम्बद्ध कर्मपुद्गल अपने स्वभावानुसार फल देने की स्वयं क्षमता रखते हैं इसके लिए किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती यह विशेष रूप में जानने योग्य है।

मोक्ष : कृत्स्न कर्म क्षयो मोक्षः। अर्थात् आत्मसबद्ध सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है। कर्मों के घाति (घनघाति) और अघाति ऐसे दो भेद हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाति कर्म और वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र ये चार अघाति कर्म कहलाते हैं। घाति कर्मो मे भी मोहनीय कर्म सबसे अधिक स्थिति वाला तथा प्रभावशाली होने से सब कर्मों का राजा कहलाता है। इसीलिए मुमुक्षु जीव संवर द्वारा नये कर्मों का प्रवेश रोक कर निर्जरा द्वारा संचित कर्मों को आत्मा से पृथक् करते हुए सबसे पहले इसी कर्म का निर्मूलन करते हैं। पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त के अन्दर शेष तीन घाति कर्मों का उन्मूलन कर देने से आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन शक्ति का विकास हो जाता है। मुमुक्षु आत्मा की यह सर्वोपरि विजय होती है, राग-द्वेषरूपी महानृप अपने दलबल सहित सदा के लिए पराजित हो जाता है, उस

समय मुमुक्षु केवल ज्ञान, केवल दर्शनरूपी अपूर्व ज्योति प्राप्त कर जीवन्मुक्त अवस्था का अनुभव करने लगता है। शेष अघाति चारों कर्म इसके लिए अकिंचित्कर बन जाते हैं। और जब आयुष्य कर्म की काल मर्यादा पूर्ण हो जाती है तब सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त होकर वह आत्मा अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन शक्ति के बल पर लोक के अग्र भाग में स्थित हो जाती है। इसे ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष स्थान और मुक्त जीवों के स्वरूप का वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है—इस पञ्चास्तिकायात्मक लोक के मस्तक स्थान पर ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) नाम की श्वेत वर्ण वाली उत्तान छत्राकार पैंतालीस लाख योजन विस्तार की पृथ्वी है, इसके ऊपर एक योजन तक लोकाकाश है। उस एक योजन में भी सबसे ऊपर के ३३३ १/३ धनुष जितने परिणाम में जो लोकाकाश रह जाता है उसे लोकान्त कहते हैं, यही मुक्त आत्माओं के विराजने का क्षेत्र है, इसी को सिद्ध क्षेत्र तथा मोक्ष स्थान भी कहते हैं। मुक्त जीव अपने चरम शरीर की अवगाहना के २/३ भाग बराबर की आत्मप्रदेशीय अवगाहना से [पौद्गलिक अवगाहना से नहीं, क्योंकि पुद्गल तो आत्मा से सर्वथा और सर्वदा के लिए अलग हो चुके हैं] लोकाग्र के अन्तिम भाग को स्पर्शते हुए निश्चल होकर अधर रूप से विराजमान रहते हैं। सिद्ध होने के समय और प्रादेशिक अवगाहना के सिवाय मुक्त आत्माओं में अन्य कोई अन्तर नहीं होता। तीर्थ सिद्ध अतीर्थ सिद्ध आदि सिद्धों के १५ प्रकार ऐहिक उपाधियों को लेकर समझने चाहिए।

मुक्त आत्माओं के विषय में निम्न लिखित विशेष बातें विशेष रूप से जानने योग्य हैं:—

१ संसार में आने के सभी कारण उनके नष्ट हो जाने

से पुनः संसार में उनका आगमन कदापि नहीं होता।

२ केवल ज्ञान, केवल दर्शन इन उपयोगों से युक्त प्रत्येक असंख्यात प्रदेशी आत्मा स्वतन्त्र रूप में विराजमान रहती है, किसी अन्य ज्योति में उसका विलीनीकरण नहीं होता।

३ मुक्तात्माओं को आत्यन्तिक, ऐकान्तिक, निरुपम, नित्य और निरतिशय निर्वाण सुख (आत्मीय आनन्द) शाश्वत रूप में प्राप्त रहता है।

नवतत्त्वों के स्वरूप यथावत् समझ कर उन पर श्रद्धा प्रतीति रखते हुए जीवन के अन्दर अमल में लाने से इस लोक और परलोक मे कल्याण के भागी होंगे!

बदरीनारायण शुक्ल
परीक्षा-मन्त्री

इस पुस्तक के प्रकाशन में सहायक आदर्शकुटुम्ब का

संक्षिप्त परिचय

पीपला—जिला बीड (निजाम स्टेट) मे श्रीमान् सेठ कोंडीरामजी बोरा रहते थे। आप अतीव सरल प्रकृति के धर्मनिष्ठ और व्यवहार दक्ष पुरुष थे। आपने अपनी प्रामाणिकता के बल पर पर्याप्त सम्पत्ति का उपार्जन किया था। पूज्यपाद कविकुलभूषण श्री तिलोकऋषिजी म० के पास से आपने सम्यक्त्व धारण किया था और पूज्यपाद के पाटवी शिष्यरत्न श्री रत्नऋषिजी म० के सत्संग से आपकी धर्मभावना वृद्धिंगत हुई थी। आपको धार्मिक ग्रन्थों के वाचन करने का विशेष शौक था, श्रोताओं के अन्तःकरण को आप आकर्षित कर लेते थे। व्रत प्रत्याख्यान की तरफ आपकी अभिरुचि अधिक थी और स्वीकारे हुए व्रतों को पालने में आप बहुत ही चुस्त रहते थे। आपको ज्योतिष-शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। पंडितरत्न मुनि श्री आनन्दऋषिजी म० के दीक्षामुहूर्त्त का निर्णय करने के लिए आप अपने भतीजे श्री मुकुन्ददासजी को साथ लेकर मिरी से अहमदनगर गये और वहाँ शास्त्र विशारद सुश्रावक श्रीमान् किसनदासजी मुथा और ज्योतिर्विद पं० धोंडो-

पन्तजी के साथ ज्योतिष शास्त्र के अनुसार गंभीरता से विचार-विनिमय करके मार्गशीर्ष संवत् १६७० का मुहूर्त्त आपने निश्चय किया था।

सेठ श्री कोंडीरामजी क १—श्री चाँदमलजी २—श्री सोभाचन्दजी नामक दो पुत्ररत्न हुए। ये दोनो ही बन्धु आचार और विचार में अपने पिता श्रीजी के अनुयायी बने। आप लोगों की धार्मिक श्रद्धा अत्यन्त सराहनीय हुई। श्री तिलोकरत्न स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी मे ५०१) रुपये चाँदमलजी बोरा के नाम से और श्री अमोल जैन सिद्धांतशाला पाथर्डी की शाखा श्री जैन सिद्धांतशाला अहमनगर घोडनदी मे ५०१) रुपये श्री सोभाचन्दजी बोरा के नाम से प्रदान कर युगल बन्धुओं का सरक्षक सदस्य पद कायम किया। पूज्य श्री १००८ श्री आनन्दऋषिजी म० के अहमदनगर चातुर्मास (स० १६६७) में दोनो बन्धुवों ने अनुक्रम से मासखमण और अठाई की तपश्चर्या की उस समय भी करीब ७००) का दान धार्मिक सस्थाओं में दिया गया था। इस प्रकार व्यावहारिक और धार्मिक कार्यों मे दोनों बन्धुओं ने एक हृदय, एक निष्ठा और एक बर्ताव रखते हुये बन्धुस्नेह और एकता का आदर्श उपस्थित कर दिया। सवत् १६६८ वैशाख शुक्ल १३ को ज्येष्ठ बन्धु श्रीमान् चाँदमलजी का स्वर्गवास हो गया। आपको १—नवलमलजी, २—दौलतरामजी और ३—रतनचन्दजी ये तीन पुत्र और २ पुत्रियाँ हैं। आनुवशिक धर्मनिष्ठा आप लोगों मे भी अच्छी तरह निवास की है। तीनो ही भ्राता व्यावहारिक और धार्मिक कार्यों में कुशलतापूर्वक प्रगति कर रहे है। संवत् १६६६ के माघ कृष्ण ६ बुधवार को पाथर्डी में चतुर्विध श्री संघ के समक्ष पडितरत्न श्री आनन्दऋषिजी म० को ऋषि सम्प्रदाय

की तरफ से पूज्य पदवी दी गई उस प्रसंग पर स्व० पंडितजी श्री राजधारी त्रिपाठी शास्त्रीजी ने अपने वक्तव्य में सकेत किया कि जैसे राजाधिराजों के राज्याभिषेक प्रसंग पर दानोपदान आदि शुभ कार्य किये जाते हैं वैसे ही आज के महत्त्वपूर्ण धार्मिक अवसर पर दान-धर्म जैसा उत्कृष्ट मंगल कार्य भी होना चाहिए। पंडितजी के इस उद्गार से प्रेरित होकर श्रीमान् सोभाचन्दजी बोरा ने 'श्री चांदमलजी सोभाचन्दजी बोरा' इस नाम से श्री ति० र० स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी के अन्दर पुस्तक प्रकाशन विभाग में २१००) का दान घोषित किया। पश्चात् सं० २००३ में श्री वर्द्धमान जैन धर्म शिक्षण प्रचारक सभा की स्थापना हुई उस समय भी ५०१) | ५०१) | १००२) रु० की मदद आप लोगों की तरफ से दी गई। इसी प्रकार श्री तिलोक जैन पाठशाला, पाथर्डी तथा चिंचवड, चाँदवढ़, लासलगांव आदि धार्मिक शिक्षण संस्थाओं में भी इस कुटुम्ब की तरफ से प्रति वर्ष सहायता दी जाती है।

—

स्व० सेठजी श्री चाँदमलजी बोरा के लघु बन्धु श्रीमान् सोभाचन्दजी बोरा वर्त्तमान में विद्यमान हैं। धार्मिक ग्रन्थ एवं शास्त्रों के वाचन की तरफ आपका लक्ष विशेष रहता है। आप स्वभाव के शांत और सरल हृदयी हैं। आपको १—सिरेमलजी, २—कुन्दनमलजी ऐसे दो पुत्र और १ पुत्री है।

दानवीर सेठ श्री चाँदमलजी सोभाचन्दजी बोरा की तरफ से परीक्षा बोर्ड के पुस्तक-प्रकाशन विभाग में जो २१००) की सहायता प्राप्त हुई थी, उसके आय से इस 'नवतत्त्व' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ है, एतदर्थ इस बोरा कुटुम्ब

को शतशः धन्यवाद देते हुए धार्मिक परीक्षा बोर्ड आपका आभार मानता है।

इस 'नवतत्त्व' के प्रकाशन में प्रूफ-संशोधन का कार्य ब्यावर निवासी श्रीमान् पं० शोभाचन्दजी भारिल्ल न्यायतीर्थ ने किया है, इस बहुमूल्य सहयोग के लिए आप अनेकशः धन्यवाद के पात्र हैं।

समाजसेवक,

पं. चंद्रभूषणमणि त्रिपाठी शास्त्री,	पं. बदरीनारायण शुक्ल
'साहित्यालंकार, विशारद'	'जैन सिद्धांताचार्य, सर्वदर्शनशास्त्री'
प्रधान मन्त्री।	*परीक्षा-मन्त्री।*

श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड,
पा थ र्डी (अहमदनगर)

❀ ॐ अर्हन् ❀
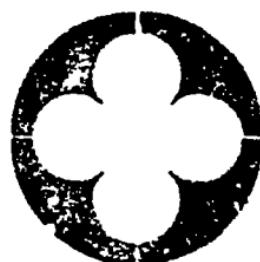
नवतत्त्व सार्थ

आर्यावृत्त-

जीवाजीवा पुण्णं पावासवसंवरो य निज्जरणा ।
बंधो मुक्खो य तहा नवतत्ता हुंति नायव्वा ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया-जीवाजीवौ पुण्यं पापास्रवौ संवरश्च निर्जरणा।
बन्धो मोक्षश्च तथा नव तत्त्वानि भवन्ति ज्ञातव्यानि ॥ १ ॥

सूचना—प्राकृत शब्दों के समझने में सुविधा प्राप्त हो इस हेतु से गाथाओं के साथ संस्कृत छाया भी दे दी गई है । परीक्षा में छाया ग्रहण्य नहीं है ।

अर्थ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव तत्त्व जानने योग्य है ।

१-जिसमें चैतन्य अर्थात् ज्ञान शक्ति हो उसे जीव कहते हैं ।

२-जो सर्वथा चैतन्यरहित अर्थात् जड़ हो उसे अजीव कहते हैं ।

३-जिसके उदय से आत्मा को सुख की प्राप्ति हो, तथा जिससे आत्मा पवित्र बने उसे पुण्य कहते हैं । उपचार से शुभ प्रवृत्तियों को भी पुण्य कहते हैं ।

४-जिसके उदय से आत्मा को दुःख की प्राप्ति हो तथा जो आत्मा के पतन का कारण हो उसे पाप कहते हैं । उपचार से अशुभ प्रवृत्तियों को भी पाप कहते हैं ।

५-आत्मा से सम्बन्ध करने के लिये जिसके द्वारा कर्मपुद्गल आते हैं उसे आस्रव कहते हैं अर्थात् शुभ और अशुभ कर्मों को ग्रहण करने में निमित्त होने वाली प्रवृत्तियाँ, तथा आत्म-संबद्ध प्राचीन कर्म और आत्मीय परिणाम आस्रव कहलाते है ।

६-आस्रव-द्वार को रोकना संवर कहलाता हैं ।

७-विपाक या तपस्या द्वारा देशतः कर्मों के क्षय होने को (आत्मा से झड़ने को) निर्जरा कहते हैं ।

८-आस्रव द्वारा ग्रहण किये हुये कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बन्ध कहलाता है।

९-द्रव्य और भाव कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर अपने स्वरूप में आत्मा का शाश्वत रूप से स्थित हो जाना मोक्ष कहा जाता है।

स्पष्टीकरण- जगत् के सभी पदार्थ ज्ञेय, हेय, उपादेय, इन तीन कोटि में रखे गये हैं। उनके लक्षण निम्न हैं-

१ जो वस्तु केवल जानने योग्य है अर्थात् उसको न हम ले सकते हैं और न तो छोड़ सकते है परन्तु उसकी जानकारी होना आवश्यक है, वह ज्ञेय है।

२ जो वस्तु जीवन के लिये सर्वथा अहितकारी है वह हेय अर्थात् छोड़ने योग्य है।

३ जो वस्तु अपने लिये हितकर है, वह उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है।

ऊपर कहे गये नव तत्त्वों में जीव अजीव ये दो तत्त्व ज्ञेय हैं, क्योंकि न तो हम उनका ग्रहण ही कर सकते हैं और न त्याग ही कर सकते हैं।

पाप, आश्रव, बन्ध ये तीनों तत्त्व आत्मस्वरूप के विघातक है, अतः ये हेय हैं।

पुण्य तत्त्व नैगम नय की दृष्टि से उपादेय है, व्यवहार से ज्ञेय है और निश्चय नय की दृष्टि से हेय है।

संवर, निर्जरा, और मोक्ष ये तीन तत्त्व आत्मीय गुणों को प्रकाश मे लाने वाले है अतः ये उपादेय हैं।

जैन दर्शन सभी वस्तु के विचार मे मूर्त-अमूर्त अर्थात् कौनसी वस्तु रूपी (आकार वाली) और कौनसी अरूपी (आकार रहित) है, इस पर विशेष ध्यान देता है, क्यों कि इस ज्ञान से आगे चल कर आगमों के अध्ययन में बड़ा सहारा मिलता है, अतः

बालकों की जानकारी के लिये नव तत्त्वों के मूर्तामूर्त का ज्ञान करा देना आवश्यक है।

१ संसारी जीव शरीर और इन्द्रियों से युक्त है, अतः वह मूर्त (रूपी) है। सिद्ध जीव शरीर इन्द्रिय से रहित हैं अतः वे अमूर्त (अरूपी) है।

२ अजीव तत्त्व में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल ये चार द्रव्य अ र्त हैं और पुद्गलास्तिकाय मूर्त हैं।

३ पुण्य, पाप, आश्रव और बन्ध ये चार पुद्गलस्वरूप हैं, अतः ये मूर्त हैं।

४ संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन जीव के परिणामरूप हैं, अतः अमूर्त हैं।

हर एक तत्त्व के कितने भेद होते हैं उन को बताते हैं:-

चउदस चउदस बाया-लीसा बासी य हुंति बायाला।
सत्तावन्नं बारस चउ-नव भेया कमेणेसिं ॥ २ ॥

चतुर्दश चतुर्दश द्विचत्वारिंशत् द्व्यशीतिश्च भवन्ति द्विचत्वारिंशत्।
सप्त पञ्चाशत् द्वादश चतुर्नव भेदाः क्रमेणैषाम् ॥ २ ॥

अर्थ—जीवतत्त्व के चौदह, अजीव तत्त्व के चौदह, पुण्य के बयालिस; पाप के बयासी, आश्रव के बयालिस, संवर के सत्तावन, निर्जरा के बारह, बन्ध के चार और मोक्ष के नव भेद हैं।

ऊपर की गाथा में जीव के साधारण भेद १४ बतलाये, दूसरी रीति से जीव के अन्य भेद भी होते हैं उनको बतलाते हैं-

एगविह-दुविह-तिविहा चउव्विहा पंच छव्विहा जीवा।
चेयण तस इयरेहिं, वेय-गई-करण-काएहिं ॥ ३ ॥

एकविध-द्विविध-त्रिविधाश्चतुर्विधा पञ्च षड्विधा जीवा ।
चेतन-त्रसेतरै-र्वेद-गति-करण-कायैः ॥ २ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव चेतना वाले हैं अत: चेतना लक्षण से जीव एक प्रकार का है। त्रस और स्थावर रूप से दो भेद होते हैं। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीन विभागों में विभक्त ससारी जीव देखे जाते हैं, अतः इन भेदों से तीन प्रकार के जीव होते हैं। नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति के भेद से चार प्रकार के जीव हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय भेद से पांच प्रकार के जीव हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय रूप से ६ प्रकार के जीव कहे गये हैं।

विशेष विवरण

अपर्याप्त एकेन्द्रिय दशा में भी जीव क्यों न गया हो, वहाँ भी चैतन्य का सूक्ष्म अंश सर्वदा विद्यमान रहता है। जैसे सूर्य बादलों से चाहे जितना भी आच्छादित हो जाय तो भी उसका प्रकाश कुछ न कुछ अवश्य बना रहता है, तद्वत् कर्मों के प्रगाढ़ आवरण से ढँके हुए जीव के ज्ञान का अनन्तवाँ भाग खुला रहता है। सारांश यह कि चेतना जीव का लक्षण है तो "यस्य वस्तुनो यल्लक्षण तल्लक्षणाभावे तद्वस्तुनोऽप्यभावः" अर्थात् जिस वस्तु का जो लक्षण है, वह लक्षण उस वस्तु में न मिले तो वह वस्तु ही नहीं है, ऐसा सिद्ध नियम है तो यदि एकेन्द्रिय जीवो में चेतना स्वीकार न करें तो वे जीव ही नहीं कहलायेंगे।

त्रास व भय से अपना बचाव करने के लिये जो जीव स्थानान्तर में चल फिर सकें वे त्रस कहलाते हैं- जैसे-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि। जो जीव अपना बचाव करने के लिये स्थाना-

न्तर न कर सकें, वे स्थावर कहलाते हैं। जैसे- एकेन्द्रिय जीव पृथ्वीकाय अप्काय वगैरह।

जो जीव पुरुष के साथ रमण करने की अभिलाषा दर्शाते हैं वे स्त्रीवेद वाले कहे जाते हैं। जो जीव स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा करते हैं वे पुरुष वेद वाले कहलाते हैं। जो स्त्री व पुरुष दोनो के साथ रमण की इच्छा दर्शाते हैं वे नपुंसक वेद वाले कहलाते हैं।

जब तक जीवों का अष्ट कर्मों से छुटकारा नहीं होता तब तक वे जीव कर्मानुसार देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक मे आया जाया करते हैं अतः देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति तथा नरकगति के भेद से चार प्रकार के जीव हैं। जिन्हें स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) मात्र है वे जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं, जैसे—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। जिन्हें स्पर्शेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय (जिह्वा) ये दो ही इन्द्रियाँ हों उनको द्वीन्द्रिय कहते हैं, जैसे—जोंक शंख आदि। जिन्हें स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय (नाक) हो उन्हे त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं, जैसे—चींटी, खटमल, जूं आदि। जिन्हें शरीर, जीभ, नाक और चक्षुरिन्द्रिय (आंख) हो उन्हें चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं, जैसे बिच्छू, भौंरा, मक्खी, मच्छर आदि। जिन्हे शरीर, जीभ, नाक, आंख और श्रोत्रेन्द्रिय (कान) हो उन्हे पचेन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे—देवता, नारकी, मनुष्य, पशु, पक्षी, इत्यादि।

काय कहते हैं शरीर को। जो पृथ्वीत्व को प्राप्त है, अर्थात् पृथ्वी का ही जिनका शरीर है वे पृथ्वीकाय कहलाते हैं। इसी तरह अप्काय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का अर्थ समझना। ऊपर के पाच और छठवाँ त्रस जीव ये समुदाय से षट्जीवनिकाय कहे जाते हैं।

दूसरी गाथा मे चौदह भेद जीवतत्त्व के होते हैं ऐसा कह आये हैं। अब उनके प्रकार बतलाते हैं–

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया य सबितिचउ।
अपज्जत्ता पज्जत्ता, कमेण चउद्दस जिअ ठाणा॥ ४॥

एकेन्द्रिय सूक्ष्मेतराः संज्ञीतरपञ्चेन्द्रियाश्च सद्वि-त्रि-चतुः।
अपर्याप्ताः पर्याप्ताः क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि॥ ४॥

अर्थ—'एगिंदिय सुहुमियरा' अर्थात् एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और उससे इतर बादर (एकेन्द्रियसूक्ष्म, एकेन्द्रियबादर) ऐसे दो भेद, "सन्नियरपणिंदिया" अर्थात् पचेन्द्रिय जीव संज्ञी और उससे इतर असंज्ञी (सन्नी पंचेन्द्रिय, असन्नीपचेन्द्रिय) ऐसे दो भेद और "सबितिचउ" 'बि' अर्थात् द्वीन्द्रिय ति- अर्थात् त्रीन्द्रिय, चउ अर्थात् चतुरिन्द्रिय, इन सभी के "अपज्जत्ता पज्जत्ता" अपर्याप्त और पर्याप्त मिलकर जीव के चौदह स्थान हुए।

भावार्थ—एकेन्द्रिय जीव के दो भेद सूक्ष्म और बादर, पंचेन्द्रिय के दो भेद संज्ञी और असंज्ञी (दोनों मिल कर चार हुए) और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, ये तीन, सब मिलकर सात हुए। ये सात पर्याप्त और सात अपर्याप्त ऐसे जीव के चौदह भेद हुए।

सूक्ष्म और बादर का परिचय—

जो एकेन्द्रिय जीव अनन्त जीवों के समुदाय में एकत्रित होने पर भी दृष्टिगोचर नही होते, सिर्फ केवली सर्वज्ञ ही अपने केवल ज्ञान से उनको देख सकते हैं, न तो उन को अग्नि जला सकती है, न कोई चीज उनको उपघात पहुँचा सकती हैं, और न वे ही किसी को उपघात पहुँचा सकते हैं। वे किसी प्राणी के उपयोग (काम) मे नहीं आते, निकाचित कर्म से बन्धे हुए हैं। चौदह रज्जु लोकाकाश के अन्दर कुप्पी में भरे हुए काजल के सामान

खचाखच भरे हुए हैं, वे जीव सूक्ष्मनामकर्म के उदय से सूक्ष्म कहलाते हैं। वे पृथ्वीकाय आदि पांचों में हैं।

जिन्हे हम देख सकते हैं, जिन्हे आग जला सकती है, जो मनुष्य आदि प्राणियों के उपयोग में आते हैं, जिनकी गति में रुकावट होती है, जो सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं हैं किन्तु उनके रहने की जगह नियत है वे बादर हैं। जैसे दृश्य पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति।

संज्ञी और असंज्ञी का परिचय—

जिनको पाच इन्द्रियाँ और मन है वे संज्ञी कहे जाते हैं, जैसे—देव, मनुष्य, पशु, पक्षी वगैरह।

जो पांच इन्द्रियों वाले हैं परन्तु उनको मन नहीं है वे असंज्ञी जीव कहलाते हैं, जैसे—मछली, मेंढक, तथा खून, वीर्य, वातपित्तादि के सम्मूर्छिम मनुष्य जीव।

सारांश—मछली, मेंढक, सर्प आदि तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय कितनेक माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होते हैं, वे तो संज्ञी हैं परन्तु कितनेक जल मिट्टी आदि के संयोग से उत्पन्न हो जाते हैं वे असंज्ञी हैं।

जीव के सामान्य भेद गाथा ३ में कह आये हैं। अब जीव का लक्षण बतलाते हैं—

अनुष्टुप् वृत्त—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ॥५॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव चारित्रञ्च तपस्तथा।
वीर्यमुपयोगश्चैतज्जीवस्य लक्षणम् ॥५॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जिसमें हों उनको जीव कहते हैं,

विशेष विवरण

इस जगत् मे जितने पदार्थ हैं वे सभी सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म से युक्त हैं। जैसे—घट यह एक पदार्थ है, उसमें घटत्व एक जाति है इसलिए यह घट है इतना सामान्य धर्म कहलायगा।

यह घट है, सुवर्ण, रजत, या अमुक द्रव्य का है, अमुक वर्ण का है। पाटलीपुत्र या अमुक स्थान का बना हुआ है, अमुक काल का है, यावत् सभी बातो का निश्चय हो सके उसको विशेष धर्म कहते हैं। "इद किञ्चित्" यह कुछ है, अर्थात् आकार वर्जित जो पदार्थ का भान है उसको दर्शन कहते हैं।

विशेष धर्म सहित घट की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना, ज्ञान कहलाता है। सभी (सम्पूर्ण) छद्मस्थ जीवों को पहले सामान्य धर्म बोध रूप दर्शन उपयोग प्राप्त होता है तद-नन्तर अन्तर्मुहूर्त काल मे विशेष धर्म बोध रूप ज्ञानोपयोग होता है। केवली और सिद्ध भगवान् को प्रथम ज्ञान तदनन्तर एक समय के व्यवधान से दर्शन (सामान्य) ज्ञान होता है। क्योंकि दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते।

जीवादि नवतत्त्वो में हेय उपादेय का ख्याल रखते हुए व्रत, नियम, समिति, गुप्ति के सहारे से अपनी प्रवृत्ति रखना वह चारित्र कहलाता है।

उत्साह शक्ति को वीर्य कहते हैं। पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार दर्शन इनको उपयोग कहते हैं।

साराश—उपर्युक्त ज्ञान दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य, उपयोग ये जो जीवलक्षण हैं, सो सत्ता की अपेक्षा से सब संसारी जीवों में रहते हैं। परन्तु ससारी जीव कर्म परमाणुओ से घिरे हुए हैं अतः उनके क्षयोपशम के अनुसार न्यूनाधिक्य देखने में आते

हैं। सिद्धों में ज्ञान, दर्शन, सम्पूर्णतया आविर्भूत हैं।

संसारी जीव की ६ पर्याप्तियाँ—

आर्यावृत्त—

आहार-सरीरिन्दिय-पज्जत्ती आण-पाण-भास-मणे ।
चउ पंच पंच छप्पिय इगविगलाऽसन्निसन्नीणं ॥६॥

आहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तय आनप्राणभाषामनांसि ।
चतस्रः पञ्च पञ्च षडपि चैकविकलासंज्ञिसंज्ञिनाम् ॥६॥

अर्थ—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति ये छह पर्याप्तियाँ होती हैं। एकेन्द्रिय जीवों को, विकलेन्द्रिय जीवों को, असज्ञिपंचेन्द्रियों को और संज्ञी पंचेन्द्रियों को क्रमशः—चार, पांच, पांच, और छह पर्याप्तियाँ होती हैं।

पर्याप्त अपर्याप्त का परिचय—

उत्पत्ति के समय संसारी शरीरधारी जीवो के अंगोपांगादि सम्पूर्ण साधनों को पूर्ण करने वाली शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। उस पर्याप्ति के ६ भेद हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति, मनःपर्याप्ति।

१—जीवसम्बद्ध पुद्गल में एक ऐसी शक्ति है जो आहार को ग्रहण कर उसका रस बनाती है उसको 'आहार-पर्याप्ति' कहते हैं।

२—रसरूप परिणाम का खून, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य बनाकर शरीर रचना करने वाली शक्ति विशेष को शरीर 'पर्याप्ति' कहते हैं।

३—रक्त, मांस आदि में परिणत रस से इन्द्रियों की बनाने वाली शक्ति विशेष को 'इन्द्रियपर्याप्ति' कहते हैं।

४-श्वासोच्छ्वास बनने योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उसे श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करने वाली शक्ति विशेष को 'श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति' कहते हैं।

५—भाषा योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण कर भाषारूप में परिणत करने वाली शक्ति विशेष को 'भाषापर्याप्ति' कहते हैं।

६—मन बनने योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर मनोरूप में परिणत करने वाली शक्ति-विशेष को 'मन.पर्याप्ति' कहते हैं।

सारांश—कही हुई ६ पर्याप्तियों में से पहले की चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीव को मिलती हैं। मन'पर्याप्ति को छोड़ कर शेष पर्याप्तियाँ विकलेन्द्रिय जीव (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) को और असंज्ञी पंचेन्द्रिय को मिलती हैं। छहों पर्याप्तियाँ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को मिलती हैं।

जिन जीवों को जितनी पर्याप्तियाँ मिलती हैं उन पर्याप्तियों को यदि वे पूरा कर चुके हों तो वे पर्याप्त कहे जाते है। जिन जीवों ने अपनी सम्पूर्ण पर्याप्तियाँ पूरी नहीं की, वे अपर्याप्त कहे जाते हैं। पहले की तीन पर्याप्तियाँ पूरी किये बिना जीव मर नहीं सकता।

संसारी जीव को जीने की क्रियायें अर्थात द्रव्यप्राणों के दश भेद और वे किन जीवों को कितने २ हे सो कहते हैं—

पणिंदिय-ति बलूसा-साऊ दस पाण चउ छ सग अट्ठ।
इगदुतिचउरिन्दीणं . असन्निसन्नीण नव दस य ॥ ७ ॥

पञ्चेन्द्रियत्रिबलोच्छ्वासायूंषि दशप्राणाश्चत्वारः षट्सप्ताष्टौ।
एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामसंज्ञिसंज्ञिनां नव दश च ॥ ७ ॥

अर्थ—पांच इन्द्रियाँ, तीन बल (योग) श्वासोच्छ्वास, और आयुष्य ये दश प्राण हैं। इनमें से एकेन्द्रिय को ४, द्वीन्द्रिय को ६,

त्रीन्द्रिय को ७, चतुरिन्द्रिय को ८, असंज्ञिपंचेन्द्रिय को ९ और संज्ञीपंचेन्द्रिय को १० प्राण होते हैं।

विशेषार्थ—

किन २ जीवो को कितने २ प्राण होते हैं, वह कहते हैं—पृथ्वी आदि पांच स्थावर एकेन्द्रिय हैं, इनको स्पर्शनेन्द्रियबलप्राण, श्वासोच्छ्वासबलप्राण, कायबलप्राण और आयुष्यबलप्राण ऐसे चार प्राण पर्याप्त अवस्था में होते है। शङ्ख लोकादि द्वीन्द्रिय जीवों को छह प्राण होते हैं—प्रथम के चार प्राण और रसनेन्द्रियबलप्राण तथा वचनबलप्राण, एव ६। जूं, लीख, कीड़ी इत्यादि त्रीन्द्रिय जीवो को सात प्राण होते हैं—ऊपर के कहे हुए ६ प्राण तथा घ्राणेन्द्रियबलप्राण, एव ७। वृश्चिक, भ्रमर, डास, मक्षिकादि चतुरिन्द्रिय जीवों को प्रथम के ७ प्राण और चक्षुरिन्द्रियबलप्राण एव ८। माता-पिता के सयोग के विना अर्थात् गर्भ विना सम्मूर्छिम मनुष्य, मलमूत्रादि १४ अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं और संमूच्छिम तिर्यंच होते हैं। इन असंज्ञी संमूर्छिम पचेन्द्रिय जीवो को ऊपर कहे हुए आठ प्राण तथा श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण जोड़ने से नव प्राण होते हैं। इसमें इतना विशेष है कि संमूर्च्छिम दो प्रकार के होते हैं—एक सम्मूर्च्छिम मनुष्य और दूसरे सम्मूर्च्छिम तिर्यंच, उनमे तिर्यंच सम्मूर्च्छिम को तो नव प्राण नियमतः होते ही हैं, किन्तु जो संमूर्च्छिम मनुष्य हैं, उनको वचनबलप्राण न होने से आठ प्राण हैं। माता पिता के संयोग से गर्भ मे उत्पन्न होने वाले ऐसे मनुष्य और तिर्यंच जो गर्भज सज्ञी पंचेन्द्रिय हैं तथा जो उपपातशय्या मे उत्पन्न होने वाले देवता तथा नारकी के कुभी में उत्पन्न होने वाले नारकी जीव वे दोनों माता पिता के सयोग के बिना उत्पन्न होते हैं, किन्तु इनको छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण होती है और वे पंचे-

न्द्रिय हैं, इस कारण से देवता, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच को सज्ञी पचेन्द्रिय माना है। इनको ऊपर कहे हुए सभी नव प्राण और मनोबलप्राण ऐसे दश प्राण होते हैं।

इति जीवतत्त्व

अजीव तत्त्व

अब अजीव तत्त्व का वर्णन करते हैं—

धम्माऽधम्माऽऽगासा, तिअ तिअ भेया तहेव अद्धा य।
खंदा देसपएसा, परमाणू अजीव चउदसहा ॥ ८ ॥

धर्माधर्माकाशास्त्रिक त्रिक भेदास्तथैवाद्धा च।
स्कंधा देशप्रदेशाः परमाणवोऽजीवश्चतुर्दशधा ॥८॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन तीनो के स्कध, देश, प्रदेश, रूप से तीन २ भेद होते हैं। काल का एक भेद होता है। पुद्गल के स्कध, देश, प्रदेश और परमाणु चार भेद होते हैं, ये सब मिलकर अजीव के चौदह भेद हुए।

विशेष विवरण

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इनके देश प्रदेश का विभाग न तो कभी हुआ, न होने वाला है, वे अखण्ड द्रव्य हैं और इन्द्रियातीत विषय हैं।

काल—भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान ये तीन काल कहे जाते हैं। परन्तु भूतकाल तो नष्ट हो चुका, भविष्यत् काल अभी आने वाला है, इसलिये ये दोनो वर्त्तमान रूप में नहीं हैं, अतः जैनाचार्यों ने काल की एक ही गणना की है। इसलिये उसको अस्तिकाय नहीं कह सकते। जिनमें देश, प्रदेश की कल्पना हो सके उन्हीं को अस्तिकाय कहते हैं। पुद्गलद्रव्य का विभाग

(टुकड़ा) हो सकता है अतः इसके स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु ऐसे चार भेद किये गये है।

स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु का परिचय--

अल्पज्ञ या छद्मस्थ जीवों की दृष्टि से अगोचर, अति-सूक्ष्म पदार्थ को अणु कहते हैं। दो अणु मिलकर द्वयणुक बनता है, तीन अणु मिलकर त्र्यणुक बनता है, इस तरह अनन्त अणुसमुदाय का भी एक स्कंध कहलाता है। स्कन्ध के बुद्धिकल्पित भाग को देश कहते हैं। स्कंध या देश में मिले हुए अतिसूक्ष्म भाग, जिसका विभाग न हो सके, उसको प्रदेश कहते हैं। वही प्रदेश भाग, जब स्कंध से अलग हो जाता है तब उसको परमाणु कहते हैं।

सारांश—विद्यार्थियों को यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि पुद्गलास्तिकाय के एक स्कंध से अनेकों स्कंध बन सकते हैं। जैसे पाँच हाथ की एक लकड़ी है, वह एक स्कंध है, उसके एक २ हाथ के पाँच टुकड़े कर दिये तो पांच स्कंध हो गये। उन एक हाथ वाले टुकड़ों में अंगुल २ या और भी छोटे २ जितने टुकड़े करें वे सभी स्कंध कहलायेंगे, परन्तु ये टुकड़े पुद्गल में ही हो सकेंगे, इतर पांच द्रव्यों के टुकड़े नहीं होते।

जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये सभी हैं, जिसका सड़ने या गलने वाला स्वभाव है, उसको पुद्गल कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल, इनको छोड़कर दुनिया में जितनी वस्तुएँ हैं—शीत, उष्ण, अंधेरा, प्रकाश वगैरह ये सभी पुद्गल हैं।

ऊपर की गाथा में अजीव के चौदह भेद बतला आये हैं, अब छ द्रव्य में कितने जीव स्वरूप हैं और कितने अजीव रूप हैं? हर एक द्रव्य का स्वभाव क्या है? इस बात को बताने के लिये गाथा कहते हैं—

धम्माऽधम्मा पुग्गल, नह कालो पंच हुंति अज्जीवा ।
चलण सहावो धम्मो, थिर-संठाणो अहम्मो य ॥६॥

धर्माधर्मौ पुद्गलनभः कालः पञ्च भवन्त्यजीवा ।
चलनस्वभावो धर्मः, स्थिरसंस्थानोऽधर्मश्च ॥६॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और काल ये पांच अजीव द्रव्य हैं, जीव सहित छह द्रव्य हुए। इन छहों द्रव्यों में भ्रमणशील अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने वाले जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य हैं, शेष ४ द्रव्य नियत स्थानशाली अर्थात् गति रहित हैं। अस्तु, जीव और पुद्गल गतिशाली होने पर भी स्वतन्त्र गति क्रिया वे नहीं कर सकते, किसी दूसरे द्रव्य की सहायता की उनको आवश्यकता पड़ती है। जैसे—मछली में तैरने की शक्ति है, परन्तु जल न हो तो वह अपनी तैरने की चातुरी कैसे बता सकती है? खूब निर्मल आंख है, परन्तु प्रकाश नहीं तो घट पट आदि वस्तु का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? उसी तरह जीव और पुद्गलों के चलने फिरने में सहायता पहुँचाने वाला धर्मास्तिकाय द्रव्य है। अतः लिखते हैं "चलणसहावो धम्मो" किं च भाषायोग्य पुद्गल ग्रहण करके कुछ बोलना आदि सभी क्रियायें धर्मास्तिकाय के ही सहारे से होती है। इसी तरह "थिरसठाणो अहम्मो य" अर्थात् जैसे-वृक्षों की छाया पथिकों को विश्रान्ति लेने में निमित्त कारण होती है उसी तरह अधर्मास्तिकाय द्रव्य पुद्गलों के स्थिरीकरण में निमित्त कारण है।

अब आगे की गाथा में आकाशास्तिकाय का स्वभाव और पुद्गलास्तिकाय का स्वरूप बतलाते हैं—

अवगाहो आगासं, पुग्गलजीवाण पुग्गला चउहा ।
खंधा देस पएसा परमाणू चेव नायव्वा ॥ १० ॥

अवगाह आकाश पुदगल-जीवानां पुद्गलाश्चतुर्धा ।
स्कंधा देशप्रदेशाः परमाणवश्चैव ज्ञातव्याः ॥१०॥

अर्थ—'अव पूर्वक गाहू-विलोडने' इस धातु से अवगाह शब्द बनता है । अर्थात् धर्मास्तिकाय वगैरह पांचों द्रव्यो को जो स्थान दे वह आकाश है, आकाश पांच द्रव्यों का आधार है, वे सब आधेय हैं। मूल गाथा मे सिर्फ—'पुग्गल जीवाणा' अर्थात् पुद्गल और जीव को स्थान देता है, ऐसा लिखा सो उपलक्षण मात्र है ।

(अनुष्टुप् वृत्त)

सद्दंधयारउज्जोय, पभा छायाऽऽतवेहि अ ।
वन्नगंधरसा फासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥११॥

शब्दान्धकारावुद्योत-प्रभा-छायाऽऽतपैश्च ।
वर्णगन्धरसाः स्पर्शाः पुद्गलानां तु लक्षणम् ॥११॥

अर्थ—शब्द, अन्धकार, रत्नादिक का उद्योत, चन्द्रादिक की प्रभा, वृक्षादिक की छाया, सूर्यादिक का आतप और जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श हो उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल के चार भेद हैं—स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु ।

सारांश—आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश । जितने आकाशदेश में धर्मास्तिकाय वगैरह पांच द्रव्य रहते हैं, वह लोकाकाश कहलाता है । उससे भिन्न अर्थात जहां पर जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय वगैरह कुछ नहीं रहते वह अलोकाकाश कहलाता है । अब काल द्रव्य के भेद बतलाते हैं—

एगा कोडि सतसट्ठि, लक्खा सतहुत्तरी सहस्सा य ।
दोय सया सोलहिया, आवलिया इगमुहुत्तम्मि ॥१२॥

एका कोटि सप्तषष्ठिर्लक्ष सप्तसप्तति सहस्राणि च ।
द्वे च शते षोडशाधिके, आवलिका एकस्मिन्मुहूर्ते ॥१२॥

अर्थ—१६७७७२१६ एक करोड़, सड़सठ लाख, सतहत्तर हजार, दो सौ, सोलह अवलिकाओं का एक मुहूर्त होता है।

समयाऽऽवली मुहुत्ता, दीहा पक्खाय मास वरिसा य ।
भणिओ पलियो सागर, उस्सप्पिणीसप्पिणी कालो ॥१३॥

समयावलिका मुहूर्त्ता दिवसाः पक्षाश्च मासा वर्षाश्च ।
भणितः पल्य. सागर उत्सर्पिण्यवसर्पिणी कालः ॥१३॥

अर्थ—समय से आवलिका बनती है, आवलिका से मुहूर्त, मुहूर्त से दिन, दिन से पक्ष, पक्ष से मास, मास से वर्ष, वर्ष से पल्योपम, पल्योपम से सागरोपम, सागरोपम से उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, और उत्सर्पिणी अवसर्पिणी से काल-चक्र बनता है।

विशेष विवरण

सबसे छोटा काल समय है। जिस तरह पुद्गलों में परमाणु निर्विभाज्य स्वरूपवाला (जिसका कोई टुकड़ा न हो सके ऐसा) है, उसी तरह काल द्रव्य के भेदों में समय भी निर्विभाज्य रूप वाला है। आचार्यों ने समय का स्वरूप बतलाने के लिये दृष्टान्त दिया है कि—कमल के सौ पत्तों को एकत्र रखकर कोई निरोग सशक्त युवा पुरुष उस पर भाला मारे, एकदम सभी पत्तों को छेदकर भाला पार होता है, छेदने वाला समझता है कि एक ही बार में वह छेदन क्रिया हो गई है, परन्तु ऐसा नहीं है। कारण कि भाला पहले पत्ते को छेदकर तब दूसरे पत्ते पर पहुँचता है एवं दूसरे को छेदकर फिर तीसरे पर, परन्तु इतनी शीघ्रता से वह क्रिया हुई कि जिसका हम विभाग नहीं कर सकते, इससे भी सूक्ष्म समय है। ऐसे असंख्य समयों की एक

आवलिका मानी गई है। संख्याता आवलिकाओं का एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्त का एक दिन होता है। १५ पन्द्रह दिन का एक पक्ष होता है। दो पक्षो का एक मास होता है। बारह महीनो का एक वर्ष होता है। असंख्यात वर्षों का एक पल्योपम होता है। दश कोडाकोड़ी पल्योपम का एक उत्सर्पिणी-काल होता है, उसी के बराबर अवसर्पिणी काल होता है। उत्स-र्पिणी अवसर्पिणी दोनों मिलकर एक काल-चक्र होता है। ऐसे अनन्त काल-चक्र बीतने पर एक पुद्गलपरावर्त होता है। एक करोड़ की संख्या को एक करोड़ से गुणा करने पर जो गुणनफल मिलता है, उसी को कोडाकोड़ी कहते हैं।

परिणामी जीव मुत्तं, सपएसा एग खित्त किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता, सव्वगयइयरअप्पवेसे ॥ १४ ॥

परिणामी जीवो मूर्त्तः सप्रदेश एकः क्षेत्रं क्रिया च।
नित्यं कारणं कर्त्ता, सर्वगतमितरदप्रवेशः ॥ १४ ॥

अर्थ—परिणामि-परिणाम वाला, जीव-जीव, मुत्त-मूर्त्त, रूपी, सपएसा-सप्रदेश, एग-एक, खित्त-क्षेत्र. किरिया-क्रिया, णिच्चं-नित्य, कारण-कारण, कत्ता-कर्त्ता, सव्वगय-सर्वगत-सर्वव्यापी, इयर-इतर, प्रतिपक्षी भेद सहित, अप्पवेसे-अप्रवेशी।

विशेषार्थ—

छह द्रव्यो में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं बाकी ४ द्रव्य अपरिणामी हैं। यहाँ परिणाम का अर्थ विभाव जानना चाहिये। स्वभाव से परिणामी तो छहों द्रव्य है। षट् द्रव्यों में एक जीव द्रव्य जीव है बाकी पाच द्रव्य अजीव हैं। षड्द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य मूर्त्त अर्थात रूपी है, बाकी के पांच द्रव्य अमूर्त्त-अरूपी हैं। ६ द्रव्यों में पांच द्रव्य सप्रदेश हैं और

एक काल द्रव्य अप्रदेशी है। षट् द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक हैं, बाकी तीन द्रव्य अनेक हैं। षट् द्रव्यों में आकाश क्षेत्र है और दूसरे पांच द्रव्य क्षेत्री हैं। छहों द्रव्यों में जीव तथा पुद्गल ये दो द्रव्य क्रियावान् अर्थात् सक्रिय हैं, बाकी चार अक्रिय हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव ये चार द्रव्य नित्य हैं और काल तथा पुद्गल ये दो अनित्य हैं। यद्यपि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपन से सब पदार्थ परिणमते हैं, तथापि धर्मादिक ४ द्रव्य सदा अवस्थित है, इसलिये नित्य कहा है। षट् द्रव्यो में धर्मादि पाच द्रव्य कारण है। एक जीव अकारणरूप है। षट् द्रव्यों मे एक जीव कर्ता है, अन्य पाच अकर्ता हैं। छहो द्रव्यो में एक आकाश सर्वगत है और इतर पाच द्रव्य मात्र लोक-व्यापी हैं। इसलिये असर्वगत जानना। यद्यपि षट् द्रव्य परस्पर में क्षीर-नीर के समान अवगाढ़ हैं तथापि 'अप्पवेसे-अप्रवेश अर्थात् प्रवेश रहित है। 'सग-सग भाव न विजहति' अर्थात् अपने २ भाव को नहीं छोड़ते हैं। यह वचन हैं।

इति अजीवतत्त्व।

पुण्य तत्त्व

जीव अजीव तत्त्वों का वर्णन करके अनुक्रम से आगे की तीन गाथाओं द्वारा पुण्य तत्त्व का वर्णन करते है—

सा उच्चगोय मणु दुग, सुरदुग पंचिंदियजाइ पणदेहा।
आइतितणूणुवंगा आइम संघयण संठाणा ॥ १५ ॥

सातोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विक-सुरद्विकपञ्चेन्द्रियजातिपञ्चदेहा।
आदित्रितनूनामुपाङ्गा-न्यादिमसंहननसंस्थाने ॥ १५ ॥

अर्थ—साय अर्थात सातावेदनीय कर्म, उच्चगोय=उच्चगोत्र, मणुदुग=मनुजद्विक अर्थात् मनुष्य गति और मनुष्यानुपूर्वी, सुरदुग=सुरद्विक अर्थात् देवगति और देवानुपूर्वी, पचिंदियजाइ=पचेन्द्रियजाति, पणदेहा=पांचदेह, आइतितणूणुवंगा=आदि त्रितनूपाङ्ग-अर्थात् पहले तीन शरीरों का अङ्गोपाङ्ग, आइमसंघयणसंठाण=आदिमसंहननसस्थान अर्थात् सहननों में पहला संहनन, संस्थानो में पहला संस्थान, ये सब पुण्य तत्त्व की प्रकृतियाँ हैं।

स्पष्टार्थ—

सातावेदनीय, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, पचेन्द्रियजाति, पांच देह अर्थात् औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस्, कार्मण ये पाँच शरीर, इनमें पहले जो तीन शरीर हैं उनके अङ्गोपाङ्ग; पहला संहनन वज्रऋषभनाराच, पहला संस्थान-समचतुरस्र, ये सभी बातें पुण्य के प्रभाव से जीव को मिलती है।

विशेष विवरण

ससारी सभी जीव अनादिकाल से कर्मो से बधे हुए हैं। उन कर्मों का जब विपाक उदय होता है तब उनको भोगने के लिये तत्तत् स्थानों में जन्म लेकर उनको भोगना पड़ता है। उस भोग की अवस्था में भी कभी शुभ कभी अशुभ विचार होते हैं। उसके अनुसार फिर नये कर्मों के परमाणु आकर उस जीव के प्रदेश में बन्ध जाते है- क्योंकि आठों कर्मों के अनन्त परमाणु लोकाकाश में भरे हुए हैं। जीव के जब जैसे शुभ या अशुभ अध्यवसाय (विचार) होते हैं, वैसे परमाणु वहाँ खिंच आते हैं और जीव में मिल जाते हैं। उन कर्मों के घाति, अघाति, ऐसे दो भेद हैं, जो कर्म अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और वीर्य का घात

करते हैं वे घाति कर्म हैं, उनसे विपरीत अघाति कर्म हैं। आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाति कर्म हैं। वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र ये चार अघाति कर्म हैं। इन मे जितनी शुभ प्रकृतियाँ हैं, वे पुण्य तत्त्व की हैं और जितनी अशुभ प्रकृतियाँ हैं वे पाप तत्त्व की हैं।

ऊपर की गाथा में आई हुई प्रकृतियों का विवरण—

१-जिस कर्म के उदय से जीव सुख का अनुभव करता है, उसको सातावेदनीय कहते हैं।

२-जिस कर्म के उदय से जीव उच्चकुल में जन्म पाता है उसको उच्चगोत्र कहते हैं।

३-जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य की गति मिले, उसको मनुष्यगति कहते हैं।

४-जिसके वश मनुष्य की आनुपूर्वी मिले उसे मनुष्यानुपूर्वी कहते हैं।

सारांश—इस भव में जीव आगे के लिये मनुष्यगति में जन्म लेने का कर्म बांध चुका है। परन्तु मरणकाल में इस शरीर को छोड़कर विग्रह (टेढ़ी) गति से दूसरी गति मे जाने लगता है तब मनुष्यानुपूर्वी कर्म जबर्दस्ती से खींच कर मनुष्यगति में ले जाता है, उसको मनुष्यानुपूर्वी कहते हैं। इसी तरह देवानुपूर्वी आदि का स्वरूप समझना चाहिये।

५-जिससे जीव को देवता का भव मिले, उसे देवगति कहते हैं।

६-जिस कर्म से जीव को देवता की आनुपूर्वी प्राप्त हो, उसे देवानुपूर्वी कहते हैं।

७-जिस कर्म से जीव को पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त हों, उसे पचेन्द्रिय जाति कर्म कहते हैं।

८-जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक शरीर मिले, उसे औदारिक नाम कर्म कहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वी आदि का शरीर औदारिक है।

९—जिस कर्म से वैक्रिय शरीर मिले, उसे वैक्रिय नाम-कर्म कहते हैं।

चाहे जैसे नाना रूप व आकार बना लेना, वह वैक्रिय शरीर है। वह शरीर हाड, मांस, रक्त, मज्जा आदि सप्त धातुओं से रहित है, वह निसर्गतः सभी देवता और नारकी जीवों को मिलता है, कभी किसी लब्धिधारी मनुष्य और तिर्यञ्च को भी लब्धि सामर्थ्य से मिल जाता है।

१०—जिस कर्म से आहारक शरीर की प्राप्ति हो, उसे आहारककर्म कहते हैं। दूसरे द्वीप में तीर्थङ्कर महाराज विद्यमान हों, उनसे कुछ प्रश्न पूछने के लिये अथवा उनका ऐश्वर्य देखने के लिये चौदह पूर्वधारी मुनिराज अपनी शक्ति से अपने शरीर के अन्दर से एक हाथ का पुतला (चर्म चक्षु से अदृश्य) निकालते हैं, वह पुतला तीर्थङ्कर या केवली महाराज के पास भेजते हैं यदि तीर्थङ्कर महाराज या केवली महाराज वहां से विहार कर गये हों तो एक हाथ के पुतले में से मुंड हाथ का पुतला निकाले, अपना कार्य करके मुंड हाथ का पुतला एक हाथ के पुतले में प्रवेश करे, एक हाथ का पुतला फिर मुनिराज के शरीर में जाकर प्रवेश करे उसको आहारक शरीर कहते हैं। लब्धि फोड़ी उसकी आलोचना करे तो आराधक, नहीं तो विराधक।

११—जिस कर्म से तैजस् शरीर की प्राप्ति हो उसे तैजस् कर्म कहते हैं। किये हुए आहार को पाचन कर रस-रक्त बनाने वाला और कर्मों के पुद्गलों को ग्रहण करने वाला तथा तपोबल से तेजोलेश्या निकालने वाला शरीर तैजस् शरीर कहलाता है।

१२—जीवों के साथ में जो आठ कर्मों का विकार संबंधित है, उसको कार्मण शरीर कहते हैं, जिस तरह बाग का माली क्यारी २ में पानी पहुँचाता है, उसी तरह प्रत्येक शरीर के अवयव में रसादिकों को परिणमन करता है तथा कर्मों का रस परिणमन कराता है, उसको कार्मण शरीर कहते हैं।

तैजस् और कार्मण इन दोनों शरीरों का अनादि काल से जीव के साथ सबंध है, मोक्ष पाये विना जीव से अलग नहीं होते।

१३—१५ अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग जिन कर्मों से मिलें उनको अङ्गोपाङ्ग कर्म कहते हैं।

जानु, भुजा, मस्तक, पीठ आदि अङ्ग हैं। अङ्गुली वगैरह उपाङ्ग हैं और अङ्गुलियों की पर्वरेखा आदि अङ्गोपाङ्ग हैं। ये अङ्गोपाङ्ग औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन्हीं तीन शरीरों को होते हैं, तैजस् और कार्मण को नहीं।

१६—प्रथम संहनन 'वज्रऋषभनाराच दो हाड़ों का मर्कट बंध होने पर एक वेष्टन दोनों पर लपेट दिया जाय, फिर तीनों पर खीला ठोका जाय इस तरह की मजबूत हड्डियों की रचना विशेष को वज्रऋषभनाराच सहनन कहते हैं।

१७—प्रथमसंस्थान-समचतुरस्र पर्यंकासन लगाकर बैठने से दोनों जानु और दोनो कधों का इसी तरह बाएँ जानु और बाएँ कंधे का, तथा दक्षिण जानु और दक्षिण स्कध का अंतर समान हो तो उस संस्थान को समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। सस्थानों में यही श्रेष्ठ है, जिनेश्वर भगवान् तथा देवताओं को यह मिलता है।

'वण्ण चउक्कागुरुलहु-परघाउस्सास आयवुज्जोयं।
सुभ खगई निमिण तसदस,सुरनरतिरि आयु तित्थयरं।१६।

वर्णचतुष्कागुरुलघु-पराघातोच्छ्वासातपोद्योतम् ।
शुभखगईनिर्माण त्रसदशक सुरनरतिर्यगायुस्तीर्थङ्करम् ॥१६॥

अर्थ—वण्णचउक्क = वर्णचतुष्क अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, ये चार, अगुरुलघु, पराघात, श्वासोच्छ्वास आतप, उद्योत, शुभ, खगति-ख कहते हैं आकाश को, आकाश का ही दूसरा नाम है 'विहायस' अतः अर्थ हुआ शुभ विहायोगति, निमिण = निर्माण, त्रसदशक, सुरनरतिरिआयु-यहां पर 'आयु' शब्द को सुर, नर, तिरि इन तीनों के साथ जोड़ने से--सुरायु, मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु तित्थयर = तीर्थङ्कर नाम कर्म, ये सभी पुण्य तत्त्व की प्रकृतियाँ हैं।

विवरण—

श्वेत, रक्त, पीत, नील और कृष्ण ये पांच वर्ण (रग) माने गये हैं, इन्हीं पांचो से अन्य विविध वर्ण तैयार होते हैं। इनमें श्वेत, रक्त, पीत ये तीन वर्ण शुभ हैं, नील और कृष्ण ये दो वर्ण अशुभ है। इसी तरह गन्ध दो हैं—सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध। इनमें सुरभिगन्ध शुभ है, अन्य अशुभ है। रस भी पांच हैं—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर। इनमे कषाय, अम्ल और मधुर ये तीन शुभ हैं अन्य तिक्त और कटु अशुभ हैं। स्पर्श भी—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, रूक्ष, स्निग्ध, शीत, उष्ण, इन भेदो से आठ हैं इनमें मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण ये चार शुभ हैं अन्य अशुभ हैं।

१८—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर मे हंस आदि की तरह शुक्ल आदि शुभ वर्ण हो वह शुभ वर्ण नाम कर्म है।

१९—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर मे कमल, गुलाब आदि पुष्पों की तरह शुभ गंध हो वह शुभ गध नाम कर्म है।

२०—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में आम्रफल के समान मधुर आदि शुभ रस हो उसको शुभ रस नाम कर्म कहते हैं।

२१—जिस कर्म के उदय से प्राणी के शरीर में स्निग्ध आदि शुभ स्पर्श हो वह शुभ स्पर्श नाम कर्म कहलाता है।

२२—जिस कर्म के उदय से जीवों का शरीर न लोहे के समान अत्यन्त भारी और न तो आक की रूई के समान अत्यन्त हलका हो अपितु मध्यम दर्जे का हो उस कर्म को अगुरु-लघुनाम कर्म कहते हैं।

२३—जिस कर्म के उदय से जीव अन्य बलवानों की भी दृष्टि में अजेय समझा जाता है उसको पराघात नाम कर्म कहते हैं।

२४—जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास ले सके उसे श्वासोच्छ्वासनाम कर्म कहते हैं।

२५—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करे उसे आतपनाम कर्म कहते हैं (सूर्य मण्डल में रहने वाले पृथ्वीकाय के जीव ऐसे ही हैं।)

२६—जिस कर्म से जीव का शरीर शीतल प्रकाश करने वाला हो, उसे उद्योत नाम कर्म कहते हैं। चन्द्रमण्डल, ज्योतिष-चक्र, रत्नप्रकाश करने वाली औषधियाँ और लब्धि से वैक्रिय रूप धारक साधु के शरीर, ये सब उद्योत नाम कर्म वाले हैं।

२७—जिस कर्म के उदय से जीव हंस, हाथी और वृषभ की चाल के समान चले, उसे शुभ विहायोगति नाम कर्म कहते हैं।

२८—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर के अङ्गोपाङ्ग नियत स्थानवर्ती हों, उसे निर्माण नाम कहते हैं। जैसे चित्रकार चित्र के यथायोग्य स्थानों में अवयवों को बनाता है, वैसे ही निर्माण नाम कर्म भी अवयवों को व्यवस्थित करता है।

२१-३८-जिस कर्म के उदय से जीव को 'त्रसदशक' मिले, उसे त्रसदशक नाम कर्म कहते हैं।

अब प्रसङ्गोपात्त त्रसदशक का वर्णन करते हैं—

तस-बायर-पज्जत्तं, पत्तेय-थिरं-सुभं च सुभगं च।
सुस्सर-आइज्ज-जसं, तसाइदसगं इमं होइ ॥ १६ ॥

त्रसबादरपर्याप्तं, प्रत्येकं स्थिरं शुभं च सुभग च।
सुस्वरादेययशस्त्रसादिदशकमिद भवति ॥ १७ ॥

अर्थ—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यश ये त्रसदशक हैं—

विशेष विवरण—

१—जिस कर्म से जीव को त्रस का शरीर मिले, उसको त्रस नाम कर्म कहते हैं।

२—जिस कर्म से जीव का शरीर या शरीर समुदाय देखने में आ सके, इतना स्थूल हो, उसे 'बादर' नाम कर्म कहते हैं।

३—जिसके उदय से जीव अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण हो उसे पर्याप्त नाम कर्म कहते हैं।

४—जिस कर्म से एक शरीर मे एक ही जीव स्वामी रहे, उसे 'प्रत्येक' नाम कर्म कहते हैं।

५—जिस कर्म से जीव के दांत, हड्डी आदि अवयव मजबूत हों उसे स्थिर नाम कर्म कहते हैं।

६—जिसके उदय से नाभि के ऊपर का भाग शुभ हो उसे शुभ नाम कर्म कहते हैं।

७—जिस कर्म से जीव सब का प्रेमपात्र हो, उसे सौभाग्य (सुभग) नाम कर्म कहते हैं।

८—जिस कर्म से जीव का स्वर (आवाज) कोयल की तरह मधुर हो उसे 'सुस्वर' नाम कर्म कहते हैं।

९—जिस कर्म से जीव का वचन लोगों में आदरणीय हो, उसे 'आदेय' नाम कर्म कहते हैं।

१०—जिस कर्म से लोगों मे यश और कीर्ति हो, उसे 'यश. कीर्ति' नाम कर्म कहते हैं। यश और कीर्ति ये दोनों एक हैं कथचित् अलग भी हैं। इनका परस्पर भेद इस तरह का है—

एक दिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामुक यशः।
दानपुण्यभवा कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः॥ १॥

अर्थ--एक दिशा में रहने वाली कीर्ति है और सर्व दिशाओ मे पहुँचने वाला यश होता है। दान और पुण्य से उत्पन्न कीर्ति है और पराक्रम अर्थात् पुरुषार्थ से प्राप्त यश है।

३९-४१—जिस कर्म से जीव देव, मनुष्य और तिर्यंच-योनि में जाता है, उसको क्रम से 'देवायु, मनुष्यायु' और 'तिर्यंचायु' कहते हैं।

४२—जिस कर्म से जीव चौतीस अतिशयों से युक्त होकर त्रिभुवन का पूज्य होता है, उसे 'तीर्थङ्कर' नाम कर्म कहते हैं।

इति पुण्य तत्त्व

पाप-तत्त्व

नाणंतरायदसगं, नव वीए नीयसायमिच्छत्त।
थावरदसनरयतिगं, कसायपणवीसतिरियदुगं॥१८॥

ज्ञानान्तरायदशक, नव द्वितीये नीचासातमिथ्यात्वम्।
स्थावरदशनरकत्रिकं, कषायपञ्चविंशतिस्तिर्यग्द्विकम्॥१८॥

अर्थ—'नाणंतरायदसगं'-ज्ञानावरणीयकर्म के पाँच भेद और अन्तरायकर्म के पांच भेद, दोनों मिलकर दश हुए, यथा-१-मतिज्ञानावरणीय, २-श्रुतज्ञानावरणीय, ३-अवधिज्ञानावरणीय ४-मनःपर्यायज्ञानावरणीय ५-केवलज्ञानावरणीय ६-दानान्तराय ७-लाभान्तराय ८-भोगान्तराय ९-उपभोगान्तराय १०-वीर्यान्तराय, ये दश, 'नव बीए' अर्थात् दूसरा कर्म जो दर्शनावरणीय है, उसके नव भेद, जैसे—११-निद्रा, १२-निद्रानिद्रा, १३-प्रचला, १४-प्रचलाप्रचला १५-स्त्यानर्द्धि १६-चक्षुर्दर्शनावरणीय, १७-अचक्षुर्दर्शनावरणीय १८-अवधिदर्शनावरणीय १९-केवलदर्शनावरणीय, ये नव हुए, 'नीयसायमिच्छत्तं, २०-नीचगोत्र, २१-असातावेदनीय २२-मिथ्यात्वमोहनीय, थावरदसग अर्थात् स्थावरदशक २३-स्थावर २४-सूक्ष्म २५-अपर्याप्त २६-साधारण २७-अस्थिर २८-अशुभ २९-दुर्भग ३०-दुःस्वर ३१-अनादेय ३२-अयशः कीर्ति, 'नरयतिगं' नरक-त्रिक ३३-नरकायु, ३४-नरकगति ३५-नरकानुपूर्वी, 'कसायपणवीस' पच्चीस कषाय ये हैं—३६-अन्तानुबन्धीक्रोध ३७-अन० मान ३८-अन० माया ३९-अन० लोभ ४०-अप्रत्याख्यानीय क्रोध ४१-अप्र० मान ४२-अप्र० माया ४३-अप्र० लोभ ४४-प्रत्याख्यानीय क्रोध ४५-प्र० मान ४६-प्र० माया ४७-प्र० लोभ ४८-संज्वलन क्रोध ४९-सं० मान ५०-स० माया ५१-सं० लोभ ५२-हास्य ५३-रति ५४-अरति ५५-भय ५६-शोक ५७-जुगुप्सा ५८-स्त्रीवेद ५९-पुरुषवेद ६०-नपुंसकवेद 'तिरियदुगं' तिर्यंच के दो भेद अर्थात् ६१-तिर्यंचगति ६२-तिर्यंचानुपूर्वी इस गाथा में पाप तत्त्व के ६२ भेद बतलाये-

विशेष विवरण

संसार के उदर में रहने वाले चारों गति के सभी जीव (केवली भगवान् को छोड़कर) हर एक समय में नये कर्म बांधते

रहते है। उनमे शुभ अध्यवसायों से जो कर्म बांधता है, वह पुण्य है और परम्परा से स्वर्ग और मोक्ष का कारण बनता है। अशुभ अध्यवसायों से जो कर्म बाधता है, वह पाप है और वह नरक तथा तिर्यंचगति का कारण बनता है। पुण्य के कारण से ४२ चीजें प्राप्त होती है, उनका वर्णन पुण्य तत्त्व में कर आये हैं। अब पाप कर्म से ८२ चीजें जो जीव को प्राप्त होती है, उनका वर्णन कर रहे हैं—

१—मन और पाच इन्द्रियों के सम्बन्ध से जीव को जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। उस ज्ञान का आवरण अर्थात् आच्छादन जो कर्म कर देता है उसको मतिज्ञानावरणीय पापकर्म कहते हैं।

२—शास्त्र को 'द्रव्यश्रुत' कहते हैं और उसके सुनने या पढ़ने से जो ज्ञान होता है उसे 'भावश्रुत' कहते हैं। उस को जो आवरण कर लेता है उसको 'श्रुतज्ञानावरणीय' कहते हैं।

३—अतीन्द्रिय अर्थात इन्द्रियों के बिना आत्मा को रूपी द्रव्य का जो मर्यादित ज्ञान होता है उसको अवधिज्ञान कहते हैं, उसको जो आवरण करे उसे अवधिज्ञानावरणीय कहते हैं।

४—ढाई द्वीप में रहे हुये सज्ञी पचेन्द्रिय के मन की बात जिस ज्ञान से मालूम होती है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। उसको आवरण करने वाला मन.पर्यवज्ञानावरणीय कहलाता है।

५—केवल अर्थात प्रतिपूर्ण जिसके समान दूसरा कोई ज्ञान नहीं है अर्थात् लोकालोक की सम्पूर्ण रूपी अरूपी वस्तु को जानने वाला जो ज्ञान वह केवल-ज्ञान कहलाता है, उसे जो आवरण करे उसको 'केवलज्ञानावरणीय' कहते हैं।

६—दान से लाभ होता है, यह ज्ञान है, पास में धन भी है और सुपात्र का संयोग भी मिल जाय, लेकिन दान न कर सके, इसका कारण 'दानान्तराय' है।

७–दान देने वाला उदार है, उसके पास दान की सामग्री भी मौजूद है, लेने वाला भी चतुर है तो भी मांगी हुई चीज न मिले इसका कारण 'लाभान्तराय' है।

८—भोग की चीजें मौजूद हैं, भोगने की शक्ति भी है, लेकिन भोग नहीं सके, इसका कारण 'भोगान्तराय' है।

९–उपभोग की चीजें मौजूद हैं उपभोग करने का सामर्थ्य भी है, लेकिन उपभोग न कर सके, इसका कारण 'उपभोगान्तराय' है। जो चीज एक बार भोगने में आवे वह भोग्य वस्तु है जैसे— पुष्प, फल, अन्न वगैरह। जो वस्तु बार २ भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं। जैसे वस्त्र, आभरण आदि।

१०—रोग रहित युवावस्था और सामर्थ्य रहते हुए भी अपनी शक्ति का विकास न कर सके इसका कारण 'वीर्यान्तराय' पाप कर्म है।

११—आँख से पदार्थों का जो सामान्य प्रतिभास होता है, उसे 'चक्षुर्दर्शन' कहते हैं, उसका आवरण 'चक्षुर्दर्शनावरणीय' कहलाता है।

१२—श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वग्, और मन के सम्बन्ध से शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का जो सामान्य ज्ञान होता है उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं, उसका आवरण करने वाला 'अचक्षुर्दर्शनावरणीय' है।

१३—इन्द्रियो के बिना रूपी द्रव्य का जो सामान्य बोध होता है उसे अवधिदर्शन कहते है। उसका आवरण करने वाला अवधिदर्शनावरणीय है।

१४—संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्य अवबोध होता है, उसे 'केवलदर्शन' कहते हैं, उसका आवरण करनेवाला 'केवलदर्शनावरणीय' कहलाता है।

१५—सोया हुआ आदमी जरासी खट-खटाहट से या आवाज से जाग जाता है, उसकी नींद को 'निद्रा' कहते हैं, जिस कर्म से ऐसी नींद आवे उस कर्म का नाम 'निद्रा' है।

यहां प्रश्न उठता है कि ऐसी निद्रा तो लोक में श्रेष्ठ मानी जाती है और निद्रा सुख का हेतु है फिर पाप कर्म में इसकी गणना कैसे ? इसका उत्तर यह है कि जो जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्म गुण के सम्पादन में एक समय भी अपना विफल (प्रमाद) करता है, वह अधन्य माना गया है, तो निद्रा में न मालूम कितने समय व्यर्थ चले जाते हैं इसलिये इसकी गणना पाप कर्म में की गई है।

१६—जो आदमी बड़े जोर से चिल्लाने पर या देह हिलाने पर बड़ी मुश्किल से जागता है, उसकी निद्रा को 'निद्रानिद्रा' कहते हैं।

१७—खड़े २ या बैठे २ जिसको नींद आती है, उसकी नींद को 'प्रचला' कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी नींद आवे उस कर्म का नाम 'प्रचला' है।

१८—चलते फिरते जिसको नींद आती है, उसकी नींद को 'प्रचला प्रचला' कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी नींद आवे, उसका नाम 'प्रचला प्रचला' है।

१९—दिन मे सोचे हुए काम को रात में नींद की हालत में जो कर डालता है, उसकी नींद को 'स्त्यानर्द्धि' कहते हैं जिस कर्म से ऐसी नींद आवे उसका नाम भी 'स्त्यानर्द्धि' है। जब 'स्त्यानर्द्धि' कर्म का उदय होता है तब वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले जीव को वासुदेव का आधा बल हो जाता है।

२०—जिस कर्म से नीच कुल में जन्म हो उसे 'नीच गोत्र' कहते हैं।

२१--जिस कर्म से जीव दुख का अनुभव करे उसे 'असातावेदनीय' कहते हैं।

२२—जिस कर्म से मिथ्यात्व की प्राप्ति हो उसे 'मिथ्यात्व-मोहनीय' कहते हैं। मिथ्यात्व का लक्षण—

"अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ॥"

अर्थात् देव के गुण जिसमें न हो उसे देव मानना, गुरु के गुण जिसमें न हों उसे गुरु मानना, अधर्म में धर्म बुद्धि लगाना यह मिथ्यात्व है।

अब स्थावरदशक का वर्णन करते हैं—

थावर सुहुम अपज्जं साहारणमथिरमसुभदुभगाणि ।
दुस्सरणाइज्ज जसं थावरदसगं विवज्जत्थं ॥ १६ ॥

स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तं साधारणमस्थिरमशुभदुर्भगाणि ।
दुःस्वरानादेयायशः, स्थावरदशकं विपर्यस्तम् ॥१६॥

अर्थ-स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशः कीर्ति ये दश पुण्य-तत्त्व में कहे गये त्रसदशक से उलटे (विपरीत) पाप-तत्त्व के स्थावर दशक हैं—

२३—जिस कर्म से स्थावर शरीर की प्राप्ति हो उसे स्थावर नाम कर्म कहते हैं, स्थावर एकेन्द्रिय जीव गरमी या सरदी से अपना बचाव करने के लिये चल फिर नहीं सकते।

२४—जिस कर्म से आँख से नहीं देखने योग्य शरीर मिले उसे 'सूक्ष्म' नाम कर्म कहते हैं। निगोद के जीव सूक्ष्म शरीर वाले होते हैं।

२५—जिस कर्म से अपनी पर्याप्तियाँ पूरी किये बिना ही जीव मर जावे उसे 'अपर्याप्त' कहते हैं।

२६—जिस कर्म से अनन्त जीवों को एक शरीर मिले उसे 'साधारण' कहते हैं, जैसे—निगोद अर्थात् आलू मूली जमीकन्द आदि के जीव।

२७—जिस कर्म से कान, भौंह, जीभ और ओष्ठ आदि अवयव अस्थिर होते हैं, उसे 'अस्थिर' कहते हैं।

२८—जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव चरण आदि अशुभ होते हैं उसे 'अशुभ' कहते हैं।

२९—जिस कर्म से जीव किसी का प्रीतिपात्र न हो उसे 'दुर्भग' कहते हैं।

३०—जिस कर्म से जीव का स्वर सुनने मे बुरा लगे उसे 'दुस्वर' कहते हैं।

३१—जिस कर्म से जीव का वचन लोगों में माननीय न हो उसे 'अनादेय' कहते हैं।

३२—जिस कर्म से लोक में 'अपयश' और 'अपकीर्ति हो उसे 'अयशः कीर्ति' नाम कर्म कहते हैं।

३३—जिस कर्म से जीव नरक में आता है, उसे 'नरकगति' कहते हैं।

३४—जिस कर्म से जीव नरक में जीवित रहता है, उसे 'नरकायु' कहते है।

३५—जिस कर्म से जीव को जवरदस्ती नरक में जाना पड़ता है, उसे 'नरकानुपूर्वी' कहते हैं।

३६-३९-जिस कर्म से जीव को अनन्तकाल तक संसार में घूमना पड़ता है, उसे अनन्तानुवंधी पापकर्म कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इन भेदों से यह चार प्रकार का होता है। जीवन पर्यन्त प्राणी के शरीर में बना रहता है। इसके कारण अन्त में प्रायः नरकगति मिलती है।

४०-४३-जिस कर्म से जीव को देशविरति रूप प्रत्याख्यान (श्रावकपना) प्राप्त न हो उसे 'अप्रत्याख्यान' पाप कर्म कहते हैं। क्रोध, मान माया, और लोभ इन भेदों से यह भी चार प्रकार का होता है, स्थिति एक वर्ष की है। इनके उदय से अणुव्रत धारण करने की इच्छा नहीं होती और मरने पर प्रायः तिर्यंचगति मिलती है।

४४--४७-जिसके उदय से सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान (साधुत्व) की प्राप्ति न हो उसे 'प्रत्याख्यान' पाप कर्म कहते हैं, क्रोध, मान, माया और लोभ इन भेदों से यह भी चार प्रकार का है। इसकी स्थिति चार महीने की है। ये सर्वविरति रूप चारित्र (साधुपना) के प्रतिवन्धक हैं, इनके उदयकाल में मृत्यु होने पर प्रायः मनुष्यगति मिलती है।

४८--५१--जिस कर्म से 'यथाख्यात' चारित्र की प्राप्ति न हो उसे 'सज्वलन' पाप कर्म कहते हैं। इसके भी पूर्ववत् चार भेद हैं। इनकी स्थिति १५ दिन की है, इनके उदय में मृत्यु होने पर देवगति मिलती है।

५२—जिस कर्म से विना कारण या कारणवश हँसी आवे, उसे 'हास्यमोहनीय' कहते हैं।

५३—जिस कर्म से अच्छे २ सांसारिक पदार्थों में अनुराग हो उसे 'रतिमोहनीय' कहते है।

५४—जिस कर्म से दिल को नापसन्द ऐसी बुरी चीजों से वेचैनी हो उसे, 'अरतिमोहनीय' पाप कर्म कहते हैं।

५५—जिस कर्म से कारण या बिना कारण दिल में भय हो उसे 'भयमोहनीय' कहते हैं।

५६—जिस कर्म से इष्ट वस्तु का वियोग होने पर शोक हो उसे 'शोकमोहनीय' कहते हैं।

५७—जिस कर्म से दुर्गन्धि या बीभत्स पदार्थों को देख कर घृणा हो उसे 'जुगुप्सामोहनीय' कहते हैं।

५८-६०—जिस कर्म से स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद की प्राप्ति हो, उसे अनुक्रम से 'स्त्रीवेद,' 'पुरुषवेद' और 'नपुंसक-वेद' कहते हैं।

६१—जिस कर्म से जीव को तिर्यंच भव मिले उसे 'तिर्यंचगति' कहते हैं।

६२—जिस कर्म से जीव को जबर्दस्ती तिर्यंचगति में जाना पड़े उसे 'तिर्यंचानुपूर्वी' पाप कर्म कहते हैं।

इग-वि-ति-चउजाईओ, कुखगई उवघाय हुंति पावस्स।
अपसत्थं वण्णचऊ अपढमसंघयणसंठाणा ॥ २० ॥

एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः कुखगतिरुपघातो भवन्ति पापस्य।
अप्रशस्तवर्णचतुष्कमप्रथमसंहननसंस्थानानि ॥ २० ॥

अर्थ—६३. एकेन्द्रिय ६४ द्वीन्द्रिय ६५ त्रीन्द्रिय और ६६ चतुरिन्द्रिय जाति कर्म ६७ 'कुखगइ' अर्थात् 'अशुभ विहायो-गति' ६८ उपघात ६९ अप्रशस्त वर्ण ७० अप्रशस्तगन्ध ७१ अप्र-शस्तरस और ७२ अप्रशस्तस्पर्श ७३-८२ अपढमसंघयण संठाणा अर्थात् पहले संहनन और पहले संस्थान को छोड़कर शेष सभी संहनन व सस्थान ये बयासी भेद पापतत्त्व के हैं।

६३—जिस कर्म से जीव को एकेन्द्रिय जाति का भव मिले, उसे 'एकेन्द्रिय जाति' कहते हैं, इसी प्रकार ६४ द्वीन्द्रिय ६५ त्रीन्द्रिय ६६ चतुरिन्द्रिय जाति को भी समझना चाहिए।

६७—जिस कर्म से जीव ऊंट या गधे की चाल जैसा चले उसे 'अशुभविहायोगति' कहते हैं।

६८—जिस कर्म से जीव अपने ही अवयवों से दुःखी हो,

उसे 'उपघात' पाप कर्म कहते है। वे अवयव प्रतिजिह्वा (पडजीव) गंडमाला और चौर दन्त आदि हैं।

६९-७२—जिन कर्मों से जीव का शरीर अशुभ वर्ण, अ० गन्ध, अ० रस और अ० स्पर्श वाला हो उनको क्रमसे 'अप्रशस्त-वर्ण' अ० गन्ध, अ० रस और अ० स्पर्श पाप कर्म कहते हैं, वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्शों के शुभाशुभ का वर्णन पृ० २३ में कर आये हैं।

७३-७७—जिन कर्मों से प्रथम संहनन को छोड़कर शेष पांच संहननो की प्राप्ति हो उसे 'अप्रथमसंहनन, कहते हैं। सहनन ६ होते हैं, उनमें प्रथम संहनन वज्रऋषभनाराच है, उसका वर्णन पृ० २२ मे कर आये हैं। शेष का वर्णन निम्न लिखित है-

१-हड्डियों की सन्धि में दोनों ओर से मर्कट बन्ध और उन पर लपेटा हुआ पट्टा हो, लेकिन खील न ठोंका हो उसे 'ऋषभनाराच संहनन' कहते हैं।

२-दोनों तरफ सिर्फ मर्कटबन्ध हो, वह नाराच संहनन है।

३-एक ओर मर्कटबन्ध और दूसरी तरफ खीला हो तो वह अर्द्धनाराचसंहनन है।

४-मर्कटबन्ध न होकर सिर्फ खीले से ही हड्डियाँ जुड़ी हुई हों तो वह 'कीलिकासंहनन' है।

५—खीला न होकर सिर्फ हड्डियाँ परस्पर मे जुड़ी हों तो उसे 'सेवार्त्त' सहनन कहते हैं।

७८-८२-जिन कर्मों से प्रथम संस्थान को छोड़कर शेष पांच संस्थानों की प्राप्ति हो, उन्हें 'अप्रथम संस्थान' नामक पाप कर्म कहते है। संस्थान ६ होते हैं, उनमें प्रथम संस्थान-'समचतु-रससंस्थान है, उसका वर्णन पुण्य तत्त्व के पृ० २२ में कर आये हैं। शेष पांच संस्थानों का वर्णन इस प्रकार है।

१—वट के वृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं। उसका ऊपरी भाग अति विस्तार युक्त जैसा सुशोभित होता है, नीचे का भाग वैसा नहीं होता। तद्वत् नाभि से ऊपर का भाग पूर्ण और नीचे का भाग हीन हो उसे 'न्यग्रोध परिमण्डल' संस्थान कहते हैं।

२—नाभि से नीचे का भाग पूर्ण है और उदर का भाग वैसा नहीं है, वह 'सादि' संस्थान कहलाता है।

३—हाथ, पैर, सिर, ग्रीवा आदि अवयव प्रमाणोपेत हों और पीठ तथा छाती प्रमाणहीन हों, उसको 'कुब्ज' संस्थान कहते हैं।

४—कुब्ज संस्थान से जो विपरीत हो अर्थात् पीठ तथा छाती प्रमाण से युक्त हों, और हाथ, पैर, आदि प्रमाण से हीन हों उसे 'बामन' संस्थान कहते हैं।

५—शरीर के सभी अवयव हीन हों उसको 'हुंड' संस्थान कहते हैं।

इति पाप तत्त्व

आश्रव तत्त्व

इंदियकसायअव्वय जोगा पंच चउ पंच तिन्नि कमा।
किरियाओ पणवीसं, इमाउ ताओ अणुक्कमसो ॥२१॥

इन्द्रियकपायाव्रतयोगाः पच चत्वारि पंच त्रीणि क्रमात्।
क्रियाः पचविंशतिः, इमास्तु ताः अनुक्रमशः ॥ २१ ॥

अर्थ—पाच इन्द्रियाँ, चार कषाय, पांच अव्रत, तीन योग और पच्चीस क्रियायें ये आश्रव के बयालीस भेद हैं।

विशेष विवरण

जिनके द्वारा जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल सतत

आ रहा है, उनको 'आश्रव' कहते हैं। दृष्टान्त—अनेको छिद्र सहित एक नौका है, उसमें उन छिद्रों के द्वारा सतत पानी आ रहा है, उससे क्रमश. भर कर वह नौका पानी में नीचे डूब जाती है। तद्वत् यह शरीरधारी जीव एक नौका रूपी है, इसमें कर्म रूपी जल आने के लिये ऊपर कही हुई इन्द्रियाँ वगैरह छिद्र हैं, उनसे यदि अशुभ कर्म रूपी जल आत्मा रूपी नौका में भर गया तो वह आत्मा नीचे अर्थात् नरक में चली जाती है। यदि पूर्व पुण्य वश उन्हीं योगादि कतिपय छिद्रों द्वारा शुभ कर्म का प्रवेश हो गया हो तो वह परंपरया मोक्ष का कारण बन सकता है, परन्तु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान में तो शुभ अशुभ दोनों को छोड़ना ही पड़ता है, कारण कि मोक्ष के लिये शुभ अशुभ दोनों बन्धन रूप हैं।

आश्रव के दो भेद हैं—

१-प्रशस्त आश्रव २-अप्रशस्त आश्रव। शुभ प्रवृत्तियो को प्रशस्त आश्रव और अशुभ प्रवृत्तियों को अप्रशस्त आश्रव कहते हैं। पुनः आश्रव के दो भेद हैं—१-द्रव्याश्रव २-भावाश्रव। कर्मों को आने के लिये ऊपर जो बयालीस मार्ग बतलाए गये हैं, उनको द्रव्याश्रव कहते हैं। जीवों के जो शुभ अशुभ परिणाम हैं, उनको भावाश्रव कहते हैं।

श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, और स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। उनके दो भेद होते हैं—१-'द्रव्येन्द्रिय' और २-'भावेन्द्रिय'। द्रव्येन्द्रिय पुद्गल स्वरूप हैं और शब्द आदिक ग्रहण करने की शक्ति को 'भावेन्द्रिय' कहते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय है। प्राणातिपात (हिंसा) मृषावाद (झूठ) अदत्तादान (चोरी) अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह ये पांच अव्रत हैं। मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीन योग हैं।

नीचे की गाथाओं में क्रियाओं को बताते हैं—

काइय अहिगरणीया, पाउसिया पारितावणी किरिया ।
पाणाइवाइ ऽऽ रंभियपरिग्गहिया मायवत्तीया ॥ २२ ॥
मिच्छादंसणवत्ती, अपच्चक्खाणी य दिट्ठि, पुट्ठि य ।
पाडुच्चिय सामंतो-वणी अ नेसत्थि साहत्थी ॥ २३ ॥
आणवणि विआरणिया, अणभोगा अणवकंखपच्चइया ।
अन्ना पओग समुदा-ण पिज्जदोसेरियावहिया ॥ २४ ॥

कायिक्याधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी पारितापनिकी क्रिया ।
प्राणातिपातिक्यारम्भिकी, पारिग्रहिकी मायाप्रत्ययिकी च ॥२२॥
मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानिकी च दृष्टिका (पृष्टिका) स्पृष्टिका च ।
प्रातीत्यकी सामन्तोपनिपातिकी नैशस्त्रिकी स्वाहस्तिकी ॥ २३ ॥
आज्ञापनिकी वेदारणिकी अनाभोगिक्यनवकांक्षप्रत्ययिकी ।
अन्या प्रायोगिकी सामुदानिकी प्रेमिकी द्वेषिकीर्यापथिकी ॥२४॥

अर्थ—१-कायिकी २-आधिकरणिकी ३-प्राद्वेषिकी ४-पारितापिनीकी ५-प्राणातिपत्तिकी ६-आरम्भिकी ७-पारिग्रहिकी ८-मायाप्रत्ययिकी ९-मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी १०-अप्रत्याख्यानिकी ११-दृष्टिकी १२-स्पृष्टिकी (पृष्टिकी) १३-प्रातीत्यकी १४-सामन्तोपनिपातिकी १५-नैशस्त्रिकी (नैसृष्टिकी) स्वहस्तिकी १७-आनयनिकी १८-वैदारणिकी १९-अनाभोगिकी २०-अनवकांक्ष-प्रत्ययिकी २१-प्रायोगिकी २२-सामुदानिकी २३-प्रेमिकी २४-द्वेषिकी २५-ऐर्यापथिकी ये २५ क्रियायें हैं; इनका विवरण निम्न है-

१—असावधानी पूर्वक कर, चरण आदि शरीर के व्यापार से जो क्रिया लगती है उसे 'कायिकी' कहते हैं ।

२—जिस क्रिया से जीव नरक में जाने का अधिकारी होता है उसे 'अधिकरण' कहते हैं, अथवा अधिकरण याने शस्त्र-खड्गादि उपघातक द्रव्य, उनको बनाने और संग्रह करने की प्रवृत्ति को 'आधिकरणिकी' क्रिया कहते हैं।

३—जीव तथा अजीव के ऊपर द्वेष करने से जो क्रिया लगती है उसे 'प्राद्वेषिकी' क्रिया कहते हैं।

४—अपने ही हाथ से अपना सिर छाती आदि पीटने तथा दूसरो को पीड़ा पहुँचाने से जो क्रिया लगती है, उसे 'पारितापनिकी' क्रिया कहते हैं।

५—पर्वत पर से गिरने से अथवा जल, अग्नि, विष, शस्त्र, आदि द्वारा आत्मघात करने से तथा दूसरो का प्राण नाश करने से जो क्रिया लगती है उसे 'प्राणातिपातिकी' क्रिया कहते हैं।

६—खेती, घर आदि के कार्यों में हल, कुदाल आदि चलाने से अनेकों जीव नष्ट हो जाते हैं, उससे जो क्रिया लगती है, उसे 'आरम्भिकी' क्रिया कहते हैं।

७—दास, दासी, पशु आदि जीवो का संग्रह करने से एव धन अलंकार, वस्त्र, गृह आदि अजीव पदार्थों का संग्रह करने से और यह वस्तु हमारी ही है, ऐसा ममत्व करने से जो क्रिया लगती है उसे 'पारिग्रहिकी' क्रिया कहते हैं।

८-झूठ लेखादि द्वारा दूसरों को ठगने से जो क्रिया लगती है, उसे 'मायाप्रत्ययिकी' क्रिया कहते हैं।

९—वीतराग वचन से विपरीत-श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं, और उससे जो क्रिया लगती है, उसे 'मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी' क्रिया कहते हैं।

१०—संयम के विघातक कषायों के उदय से प्रत्याख्यान न-करने से जो क्रिया लगती है उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया कहते हैं।

यह जीव भूतकाल में अनन्त भवों में अनन्त शरीर सम्पादन कर चुका है, यदि मरते समय उस शरीर पर रहे हुए ममत्व का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करता है, तो उस शरीर की हड्डी वगैरह किसी एक भाग से जो जो क्रियायें आगे होंगी वे सभी क्रियाएँ उस जीव को लगेंगी, इसी तरह अपने पास में चाकू तलवार वगैरह जो अस्त्र शस्त्र आदि परिग्रह है उनका मरते समय प्रत्याख्यान नहीं किया तो उनसे जायमान सभी क्रियायें उस जीव को लगेंगी चाहे जहाँ पर वह जीव हो।

११—रागादि कलुषित चित्तपूर्वक किसी जीव या निर्जीव पदार्थ को देखने से जो क्रिया लगती है उसे 'दृष्टिकी' कहते हैं।

१२—रागादिक कलुषित चित्तपूर्वक स्त्री आदि के अंग का स्पर्श करने से जो क्रिया लगती है, उसे 'स्पृष्टिकी' कहते हैं। अथवा मलिन भावना से जो प्रश्न किया जाता है उसे 'पृष्टिकी' क्रिया कहते हैं।

१३—दूसरों के वैभव (हाथी, घोड़े, आभूषणादि) को देखकर राग द्वेष करने से जो क्रिया लगती है उसे प्रतीत्यकी क्रिया कहते हैं।

१४—अपने वैभव की प्रशंसा सुनकर खुश होने से और घी, तेल आदि के पात्र खुले रखने से उसमें संपातिम जीव विनाश को प्राप्त होते हैं, इससे जो क्रिया लगती है, उसको 'सामन्तोपनिपातिकी' क्रिया कहते हैं। अनेक प्रकार के जो नाट्य सिनेमा आदि करते हैं, उनको तथा प्रेक्षकों को भी यह क्रिया लगती है।

१५—राजा आदि की आज्ञा से यन्त्रों द्वारा कूप, तालाव आदि से पानी निकाल कर बाहर फैंकने से, क्षेपणी (गोफण)

आदि द्वारा पाषाण वगैरह फैंकने से, स्वार्थवश योग्य शिष्य को या पुत्र को बाहर निकाल देने से, शुद्ध एषणीय भिक्षा होने पर भी परिष्ठापन कर देने से जो क्रिया लगती है उसे 'नैशस्त्रिकी' या नैसृष्टिकी कहते हैं।

१६—हिरण, खरगोश आदि जीवों को मारने या मर-वाने से, किसी जीव को अपने हाथ पैरों या वस्तु द्वारा ताड़ना करने से, तथा अजीव वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि को हस्तादि द्वारा ताड़न करने से जो क्रिया लगती है, उसे 'स्वहस्तिकी' कहते हैं।

१७—जीव तथा अजीव पदार्थों को किसी के हुक्म से अथवा स्वेच्छा से लाने तथा ले जाने से जो क्रिया लगती है, उसे 'आनयनिकी' कहते हैं।

१८—जीव और अजीव पदार्थों को चीरने फाड़ने से अथवा अच्छी वस्तु को असत् बतलाने से जो क्रिया लगती है, उसे 'वैदारणिकी' कहते हैं।

१९—बेदरकारी से चीजों को उठाने रखने से एवं चलने फिरने से जो क्रिया लगती है, उसे 'अनाभोगिकी' कहते हैं। प्रमार्जन किये बिना जो वस्त्र पात्र लेते हैं, उन्हें भी यह क्रिया लगती है।

२०—इस लोक तथा परलोक का ख्याल न करके विरुद्ध आचरण करने से जो क्रिया लगती है उसे 'अनवकांक्षाप्रत्ययिकी' कहते हैं।

२१—मन को आर्त तथा रौद्र ध्यान में लगाने से, तीर्थङ्करों ने जिस वस्तु को हेय ठहराया है उसकी उपादेय रूप प्ररूपणा करने से प्रमाद पूर्वक गमनागमन, आकुञ्चन, प्रसारण आदि करने से जो क्रिया लगती है, उसे 'प्रायोगिकी' कहते हैं।

२२—किसी महापाप के जरिये समुदाय रूप आठो कर्मों का बन्धन हो तथा सामूहिक रूप में अनेक प्राणियों का एक साथ कर्म बन्धन हो उसे 'सामुदायिकी' कहते हैं।

२३—खुद प्रेम करने से अथवा दूसरो को प्रेम उत्पन्न हो ऐसे माया तथा लोभ पूर्वक व्यवहार करने से जो क्रिया लगती है, उसे 'प्रेमिकी' कहते हैं।

२४—खुद क्रोध करने से अथवा दूसरे को क्रोध उत्पन्न कराने से, किं वा अभिमान करने से जो क्रिया लगती है, उसे 'द्वेषिकी' क्रिया कहते हैं।

२५—सावधानी (यतना) पूर्वक खाना, पीना, बोलना, गमनागमन आदि हो रहा है तथापि निमेष पतन काल में काय-योग से जो सूक्ष्म क्रिया लग जाती है, उसे 'ईर्यापथिकी' क्रिया कहते हैं। यह क्रिया पहले समय में स्पृष्ट होती है, अर्थात् लगती है, दूसरे समय में वेद्यमान होती है अर्थात् वेदते हैं और तीसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है।

इति आश्रवतत्त्व

संवर तत्त्व

समिई गुत्ति परीसह जइधम्मो भावणा चरित्ताणि ।
पण-ति-दुवीस-दस-बार पंच भेएहिं सगवन्ना ॥२५॥

समितिगुप्तिपरीषहयतिधर्माः भावनाश्चारित्राणि ।
पञ्च-त्रि-द्वाविंशति-दश-द्वादश-पञ्चभेदैःसप्तपञ्चाशत् ॥२५॥

अर्थ—समिति, गुप्ति, परीसह, यतिधर्म, भावना और चारित्र, इनके क्रम से पाच, तीन, बाईस, दस, बारह और पांच भेद होते हैं। अर्थात् पाच समिति, तीन गुप्ति, बाईस 'परीसह,

दश यतिधर्म, बारह भावना और पांच चारित्र ये सवर तत्त्व के सत्तावन भेद हैं।

विशेष विवरण—

जैसे चतुष्पथ (चौक) के अन्दर कोई मकान है, उसमें चारों तरफ दरवाजे हैं और कई एक खिड़कियाँ हैं। वे दरवाजे तथा सभी खिड़कियाँ खुली पड़ी हैं, फिर उस मकान में धूली और कचरा भरते देरी नहीं लगती है और उसकी सफाई करना मुश्किल हो जाता है, परन्तु उस मकान के दरवाजे बन्द हों तो उतनी धूली प्रवेश नहीं करती। यदि प्रवेश भी किया तो जरासा मार्जनी (झाडू) घुमाते ही वह घर निर्मल हो जाता है।

दूसरा दृष्टान्त—जैसे अनेक छिद्र वाली नौका है, उस पर मनुष्य सवार हैं, छिद्रों द्वारा नौका में पानी आ रहा है, फिर सब के देखते ही देखते वह नौका जल मे डूब जाती है, किसी का कोई वश नहीं चलता है परन्तु यदि वह नौका निश्छिद्र है और अनुकूल हवा का संयोग मिला तो समुद्र लाँघ जाती है, तद्वत् आत्मा रूपी नौका में, आश्रवद्वार में बतलाए हुए 'इंदिय-कसाय अव्वय' आदि आश्रवमार्ग से आकर कर्म रूपी जल भर जाता है तब यह आत्मा अधोगति में चली जाती है, परन्तु उन छिद्रों को ऊपर की गाथा में बताए हुए संवरों से ढँक देते हैं तब नूतन कर्मों का आना बन्द हो जाता है, पुराने कर्म निर्जरा के द्वारा क्षय हो जाते हैं, बस जीव मोक्षगामी हो जाता है। सारांश यह है कि 'आश्रवनिरोधः संवरः' अर्थात् कर्मों के आने की रुकावट कर देना यही संवर है।

संवर के दो भेद हैं—१-द्रव्यसंवर २-भावसंवर। कर्म-पुद्गलों की रुकावट को 'द्रव्यसंवर' कहते हैं और आते हुए नवीन कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को 'भावसंवर' कहते हैं।

समिति की परिभाषा व उनके भेद—

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिईसु अ ।
मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती तहेव य ॥२६॥

ईर्याभाषैषणादानान्युच्चारः समितिषु च ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिस्तथैव च ॥२६॥

अर्थ—यतनापूर्वक आत्मा की सम्यक् प्रवृत्ति को 'समिति' कहते हैं। समिति के पांच भेद हैं—१ ईर्यासमिति, २ भाषा-समिति ३ एषणा समिति ४ आदान निक्षेप समिति ५ परिष्ठापनिका समिति।

१—जीवों को बचाकर विवेक पूर्वक गमनागमन करने को 'ईर्यासमिति' कहते हैं।

२—निर्दोषभाषा बोलने को 'भाषासमिति' कहते हैं।

३—गोचरी (भिक्षा) में लगते हुए ४२ दोष टालकर निर्दोष आहार ग्रहण करने को 'एषणा समिति' कहते हैं।

४—दृष्टि से देखकर और रजोहरण से प्रमार्जन करके वस्तु को उठाने रखने आदि की प्रवृत्ति को 'आदाननिक्षेप' समिति कहते हैं।

५—कफ, मल, मूत्र आदि को जीव रहित स्थान में छोड़ना इसको 'परिष्ठापनिका' समिति कहते हैं।

गुप्ति की परिभाषा व उसके भेद—

मन, वचन, काया को अशुभप्रवृत्तियों से रोकना और शुभ प्रवृत्तिओ में जोड़ना, उसको गुप्ति कहते हैं। गुप्ति के तीन भेद हैं—

१—मनोगुप्ति २—वचनगुप्ति और ३—कायगुप्ति। मनोगुप्ति के तीन भेद हैं १—असत् कल्पना वियोगिनी २—समताभाविनी और ३—आत्मारामता

१—आर्त तथा रौद्र ध्यान संबंधी कल्पनाओं का त्याग करना 'असत्कल्पनावियोगिनी' कहलाती है।

२—सब जीवों में समानभाव रखना उसको 'समताभाविनी' कहते हैं।

३—केवलज्ञान होने के बाद सम्पूर्ण योगों के निरोध करने के समय जो अवस्था होती है उसे 'आत्मारामता' कहते हैं।

वचनगुप्ति के दो भेद हैं-१-मौनावलम्बिनी २-वाङ्नियमिनी

१—किसी अभिप्राय को समझाने के लिये भृकुटी आदि से सकेत न करके मौन रहना 'मौनावलंबिनी' कहलाती है।

२—जीवों की यतना के लिये मुँह पर मुखवस्त्रिका वगैरह धारण करना 'वाङ् नियमिनी' कहलाती है।

कायगुप्ति के दो भेद है—१-चेष्टानिवृत्ति, २-यथासूत्रचेष्टानियमिनी।

१—योग-निरोधावस्था में केवली का सर्वथा शरीर-चेष्टा का परिहार तथा कायोत्सर्ग में अनेक प्रकार के उपसर्ग होते हुए भी शरीर को स्थिर रखना 'चेष्टानिवृत्ति' कहलाती है।

२—साधु लोग उठने बैठने सोने आदि में शरीर के व्यापार को नियमित रखते हैं, उसे 'यथासूत्रचेष्टानियमिनी' कहते हैं। नीचे की गाथाओं में २२ परीषहों के नाम दिखलाते हैं—

खुहा पिवासा सीउण्हं, दंसाचेलारइत्थिओ।
चरिया निसीहिया सिज्जा, अक्कोस वह जायणा ॥२७॥
अलाभ रोग तणफासा, मल सक्कार परीसहा।
पन्ना अन्नाण सम्मत्तं, इय बावीस परीसहा ॥२८॥

क्षुधा पिपासा शीतोष्णे, दंशाचेलारतिस्त्रियः।
चर्या निषद्या शय्या, आक्रोश-वध-याचनाः॥२७॥

अलाभरोगतृणस्पर्शाः मलसत्कारपरीषहाः ।
प्रज्ञाऽज्ञानसम्यक्त्वमिति द्वाविंशतिः परीषहाः ॥८॥

अर्थ—१-क्षुधा (भूख) २-पिपासा (प्यास) ३-शीत ४-उष्ण ५-दंश ६-अचैल ७-अरति ८-स्त्री ९-चर्या १०-निषद्या (आसन) ११-शय्या १२-आक्रोश १३-वध १४-याचना १५-अलाभ १६-रोग १७-तृणस्पर्श १८-मल १९-सत्कार २०-प्रज्ञा २१-अज्ञान २२-सम्यक्त्व ये २२ परिषह हैं ।

विवरण—

निवृत्तिमार्ग में सुदृढ़ रहने के लिये तथा धर्म की रक्षा के लिये एवं अष्टकर्मों की निर्जरा के लिये आई हुई सब तरह की विषम परिस्थितियाँ सहन करने को परिषह कहते हैं । जैसे—(मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं सोढव्याः परिषहाः) तत्त्वार्थसूत्रम्, बाईस परिषहों में १ प्रज्ञा परिषह और सम्यक्त्व (दर्शन) परिषह ये दो धर्म का त्याग नहीं करने के लिये हैं और २० परिषह कर्मों की निर्जरा करने के लिये हैं ।

अब २२ परिषहों का वर्णन क्रम से नीचे देते हैं—

१ क्षुधा परिषह—परिषहों में यह परिषह अत्यन्त दुस्सह है, इसी कारण सबसे पहले इसका ग्रहण किया गया है । भूख से पेट की आंतें जलने लगती हैं तो भी संयमी जीव भली भांति उसको सहन करके आगमानुसार एषणीय आहार जब मिलता है, तभी ग्रहण करते हैं । निर्दोष आहार जब तक न मिले तब तक क्षुधा को सहन करना, वह 'क्षुधा परिषह' है ।

२ पिपासा—जब तक निर्दोष अचित्त जल न मिले तब तक प्यास को सहन करना, 'पिपासा परिषह' है ।

३ शीत—कितनी भी कड़ी ठंडी क्यों न पड़ती हो जो अपने पास मर्यादित और परिमित वस्त्र हों उन्हीं से अपना

निर्वाह करना, अकल्पनीय वस्त्र की एवं अग्निकाय का आरम्भ मन से भी करने कराने की इच्छा न करना किंतु शांत चित्त से शीत को सहन करना, उसे 'शीत परीषह' कहते हैं।

४ उष्ण—अत्यन्त गरमी पड़ती हो तो भी स्नान करने की इच्छा न करना, छाता धारण न करना, पंखे की एवं वस्त्रादि की हवा न करना गरमी को सहन करना, यह 'उष्ण परीषह' है।

५ दंश—डांस और मच्छरों के काटने पर जो वेदना होती है, उसे समभाव से सहन करना, वेदना के भय से उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने की इच्छा न करना, उनको भगाने के लिये धूम्र (धूवां) आदिका प्रयोग न करना, चँवर वगैरह न झुलाना। इस सहनशीलता को दंशपरीषह कहते हैं।

६ अचेल—चेल कहते है वस्त्र को, उसका अभाव अचेल कहलाता है, साराश-यहाँ अचेल का मतलब सर्वथा वस्त्रों का अभाव नहीं समझना चाहिए किन्तु आगम में साधुओं को जितने वस्त्र रखने की आज्ञा है उतने ही रखना, कीमती नये वस्त्रों की इच्छा नहीं करना, जो कुछ साधारण या पुराने वस्त्र हों उनमें संतोष रखना, यह अचेल परीषह है।

७ अरति—अपने इच्छानुसार आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि के न मिलने से संयम में उदासीनता न लाना, यह अरति परीषह है।

८ स्त्री—स्त्रियों के अंग, उपांग, आकृति, हास्य, कटाक्ष आदि के ऊपर ध्यान न देना, स्त्रियों को मोक्षमार्ग की अर्गला समझ कर कामदृष्टि से कभी उनकी तरफ न देखना, ब्रह्मचर्य में रत रहना; यह स्त्रीपरिषह का स्वरूप है। ऐसे ही साध्वीजी को पुरुष परिषह के विषय में समझना चाहिये।

९ चर्या—बहता जल और विहार करने वाला साधु दोनों स्वच्छ रहते हैं, अतः साधु को विशेष कारण के बिना किसी एक जगह पर मर्यादा से अधिक ठहरना नहीं चाहिए किंतु धर्म का उपदेश देते हुए अप्रतिबद्ध विहार के परिश्रम को सहन करना, चर्या परिषह कहलाता है।

१० निषद्या-श्मशान, शून्य मकान, सिंह की गुफा आदि स्थानों में ध्यान करने के समय विविध उपसर्ग होने पर तथा स्त्री, पशु, पंडक रहित मकान में कामलोलुप स्त्रियों का अनुकूल उपसर्ग एवं हिंसक प्राणियों का प्रतिकूल उपसर्ग होने पर उसको सहन करना, परन्तु निषिद्ध चेष्टा न करना, निषद्या (नैषेधिकी) परिषह कहा जाता है।

११ शय्या—ऊंची, नीची, कठोर आदि जमीन का सोने के लिये योग मिलने से तथा बिछाने के लिये अल्पवस्त्र होने से नींद में खलल पहुंचती हो तो भी मन में उद्वेग न करना; यह शय्या परिषह है।

१२ आक्रोश—कोई गाली दे या कटु वचन कहे तो उसको सहन करना, आक्रोश परिषह है।

१३ वध—कोई दुष्ट मारे पीटे या जान से मार डाले तो भी उस पर क्रोध न करते हुए सहन करना वध परिषह है।

१४ याचना—गृहस्थ के द्वारा सामने लाया हुआ अन्न जल वस्त्र आदि नहीं लेते हुए स्वयं भिक्षा मांग कर संयम यात्रा का निर्वाह करना, मांगने में कोई अपमान करे तो बुरा न मानना और न भिक्षा मांगने में लज्जा ही करना, यह याचना परिषह का स्वरूप है।

१५ अलाभ—बहुत प्रयत्न करने पर भी निर्दोष आहार आदि की प्राप्ति नहीं हो रही है और जो वस्तु मुझे चाहिए वह

दाता के पास मौजूद है परन्तु वह देता नहीं है तो अपने लाभांतराय कर्म का उदय समझ कर समभाव से रहना, अलाभ परीषह है।

१६ रोग—ज्वर, अतिसार, कास, श्वास आदि प्रबल रोग शरीर में उत्पन्न होने पर जिनकल्पी साधु चिकित्सा कराने की कभी इच्छा न करे और स्थविर कल्पी साधु शास्त्रोक्त विधि से निरवद्य चिकित्सा करे किन्तु आर्त्तध्यान न करे। अपने किए हुए कर्मों का परिपाक समझ कर वेदना को समभाव से सहन करना रोग परीषह का स्वरूप है।

१७ तृणस्पर्श—रोगपीड़ित अवस्था में या वृद्धावस्था में तथा तपश्चर्या आदि कारण विशेष से दर्भ आदि तृण का बिस्तर लगाकर साधु को सोना पड़े और कठोर तृण स्पर्श से कुछ वेदना होवे, या खाज वगैरह चले तो उससे उद्विग्न चित्त न हो किन्तु उसे समभाव से सहन करना, तृणस्पर्श परीषह का स्वरूप है।

१८ मल-पसीने के संपर्क से रजः पुंज शरीर में संचित हो जाय तो भी स्नान की इच्छा न करना, मल परीषह कहलाता है।

१९ सत्कार—लोकसमुदाय तथा राजामहाराजाओं की ओर से स्तुति नमस्कार या आदर-सत्कार होने पर अपने मनमें अभिमान न लाना और आदर-सत्कार न पाने से विषाद भी न करना, यह सत्कारपरीषह का स्वरूप है।

२० प्रज्ञा—प्रखर विद्वत्ता होने पर घमंड न करना तथा अल्पज्ञान होने पर भी शोक न करना किन्तु शिक्षण लेने की अभिलाषा रखना यह प्रज्ञापरिषह है।

२१ अज्ञान—निरवच्छिन्न, अटूट परिश्रम करने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता है तो भी अपनी आत्मा को धिक्कार न देना, किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म का उदय समझ कर अपने चित्त को शान्त रखना अज्ञान परिषह है।

२२ सम्यक्त्व—अनेक कष्ट, उपसर्ग आने पर भी जिनेश्वरभाषित धर्म से विचलित न होना, शास्त्रीय सूक्ष्म अर्थ समझ न सके तो उदासीन होकर विपरीत भाव न लाना, और परदर्शन के चमत्कार से मोहित न होना, सम्यक्त्व परिषह का स्वरूप है।

अब दश प्रकार के यतिधर्म बतलाते हैं—

खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वो।
सच्चं सोअं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो॥२६॥

क्षान्तिमार्दवार्जवमुक्तितपः संयमाश्च बोद्धव्याः।
सत्य शौचमकिञ्चन च ब्रह्म च यतिधर्मः॥२६॥

अर्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचनत्व और ब्रह्मचर्य ये दश यतिधर्म (साधु के धर्म) हैं।

१—सब प्राणियों पर समान दृष्टि रखने से क्रोध नहीं होता, क्रोध को जीतना 'क्षमा' कहलाती है।

२—अहंकार का त्याग 'मार्दव' कहलाता है।

३—कपट न करना 'आर्जव' कहलाता है।

४—लोभ न करना 'मुक्ति' कहाती है।

५—इच्छा का निरोध 'तप' कहलाता है, इसके बाह्य व आभ्यन्तर विभाग से १२ भेद हैं।

६—हिंसा से निवृत्त होने को 'संयम' कहते हैं, इसके १७ भेद हैं।

७—सब जीवों के लिये सुखकारी निर्दोष वचन सत्य कहलाता है।

८—प्राणी मात्र को तकलीफ न हो ऐसा बर्ताव करना अर्थात मन वचन काय के पवित्र व्यवहार को 'शौच' कहते हैं।

९—सब परिग्रहों का त्याग 'अकिंचनत्व' कहलाता है।

१०—औदारिक, वैक्रिय सम्बन्धी मैथुन परिहार को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ऊपर कहे हुए दशविध धर्म जिसमें हों उसे साधु समझना चाहिये।

विवरण—

ऊपर कहे हुए दश धर्म अगारिधर्म वाले (श्रावक) को भी अत्यन्त श्रेयस्कर है। परन्तु श्रावक देशतः संवर धारण कर सकता है, सम्पूर्णतः नहीं। अतः ये यतिधर्म के नाम से आगम में प्रसिद्ध हैं। सिर्फ एक क्रोध के वश होने से साधु साध्वी अपने सम्पूर्ण रत्नों को खो सकते हैं, अतः पहले प्रधानतया क्षमा का उपदेश किया है। जैसे—क्रोधी प्राणी कषाय के वश होकर कर्मों को तो बांधता ही है साथ ही दूसरे की हिंसा में भी प्रवृत्ति करता है अतः पहला व्रत लुप्त हो जाता है। क्रोध में आकर गुरुजनों को अवाच्य बोलता है। अतः दूसरे व्रत का लोप होता है, एवं अदत्तादान भी लेने से तथा अब्रह्म का भी सेवन करने से तीसरे चौथे महाव्रत का भी भंग होता है। विषय सुखों में सहायक होने से परिग्रह का भी संचय कर सकता है, इस तरह मूल गुण का नाश होने पर उत्तर गुण तो स्वयं नष्ट हो जायेंगे। इन सब बातों पर ध्यान देकर क्रोध संवर पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अतः शास्त्रोक्त क्षमाधर्म का यथाविधि पालन करना ही खंति (धर्म) कहलाता है। इसी तरह सूक्ष्म दृष्टि से हर एक मार्दव आदि धर्मों के विषय में विचार नहीं करने से अनर्थपरम्परा प्राप्त होती है, अतः मुमुक्षु प्राणियों को दत्तचित्त होकर दशविध धर्मों के पालन में सावधान रहना चाहिए।

अब आगे की गाथाओ मे भावना संवर का वर्णन करते हैं—

पढममणिच्चमसरणं, संसारो एगया य अण्णत्तं।
असुइत्तं आसव संवरो य, तह णिज्जरा नवमी ॥३०॥

लोगसहावो बोही, दुल्लहा धम्मस्स साहगा अरिहा।
एयाओ भावणाओ, भावेयव्वा पयत्तेणं ॥ ३१ ॥

प्रथममनित्यमशरणं संसार एकता च अन्यत्वम्।
अशुचित्वमाश्रवः संवरश्च तथा निर्जरा नवमी ॥३०॥
लोकस्वभावो बोधिदुर्लभा धर्मस्य साधका अर्हतः।
एता भावना भावयितव्याः प्रयत्नेन ॥ ३१ ॥

अर्थ—अनित्यभावना, अशरणभावना, संसारभावना, एकत्व-भावना, अन्यत्वभावना, अशुचित्वभावना, आश्रवभावना, निर्जराभावना, लोकस्वभावभावना, बोधिदुर्लभभावना और धर्म-भावना इन बारह भावनाओं के ऊपर अहर्निश प्रयत्नपूर्वक विचार करे।

भावना शब्द का अर्थ—

इष्ट-वियोग अनिष्ट-संयोग के प्रसंग मे आत्मा में दुःस्थिति प्राप्त न हो और सुसपन्न स्थिति में गर्व न हो अतः चित्त को स्थिर करने के लिये जो विचार करते हैं, उसको 'भावना' कहते हैं।

उक्त भावनाओं का स्वरूप—

१ अनित्य—धन, यौवन, कुटुम्ब, शरीर आदि संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा चिंतन करना अनित्य भावना है, जैसे—भरतचक्रवर्ती।

२ अशरण—जिस तरह अरण्य में बलवान् क्षुधालु सिंह के जबड़े मे पड़े हुए शशक का कोई शरण (रक्षक) नहीं है, उसी तरह जन्म, जरा, मरण, व्याधि प्रियवियोग, अप्रिय संयोग, दारिद्रय, दौर्भाग्य आदि क्लेशों में पड़े हुए प्राणी का रक्षक अरिहंत भाषित धर्म के सिवाय दूसरा कोई नहीं है, ऐसा चिन्तन करना 'अशरण भावना' है। जैसे—अनाथी मुनि।

३ संसार—अनादिकाल से कर्मरूप तन्तुसंघात में बंधा हुआ यह जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव भवों में परिभ्रमण कर रहा है, संसार के सभी जीव इसके स्वजन भी हैं, परजन भी हैं, वास्तविक स्वजन परजन इस आत्मा का कोई नहीं है, जो आज माता है, वह कभी भार्या, भगिनी, दुहिता होती है। पिता, पुत्र होता है, पुत्र, पिता होता है, ससार की इस तरह अवस्था का विचार करना 'संसार-भावना' है। जैसे—मल्लिनाथ भगवान्।

४ एकत्व—यह जीव संसार में अकेला आया है, अकेला ही जायगा और अकेला सुख या दुःख भोगेगा, कोई इसका साथी होने वाला नहीं है, ऐसा सतत विचार करना 'एकत्व-भावना' है। जैसे—नमि राजर्षि।

५ अन्यत्व—शरीर जड़ है; मैं (आत्मा) ज्ञानस्वरूप हूँ, शरीर इन्द्रियगोचर है, मैं इन्द्रियातीत हूँ, शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ, ससार में घूमते हुए ऐसे अनन्त शरीर मुझे मिल चुके हैं परन्तु मैं वही हूँ, ऐसा चिन्तन करने से शरीर पर का भी ममत्व मोह छुट जाता है, अतः इसको 'अन्यत्वभावना' कहते हैं, जैसे—मृगापुत्र।

६ अशुचित्व—यह मानवशरीर शुक्र और शोणित के संघात से बना है ये दोनों अत्यन्त अशुचि पदार्थ हैं तथा खून, मांस, हड्डी, मल मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है, फिर यह शरीर किसी भी बाहरी उपाय से पवित्र होने वाला नहीं है, ऐसा सतत विचार करना, 'अशुचित्वभावना' है। जैसे-सनत्कुमारचक्रवर्ती।

७ आश्रव-संसारी जीव इन्द्रिय, कषाय, अव्रत आदि आश्रवोंके द्वारा नूतन कर्म बांध रहे हैं, आत्मधन (ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप) इन आश्रव जनित कर्मों के द्वारा लूटा जा रहा है,

इन आश्रवों को रोकना चाहिए, इस तरह हमेशा विचार करना 'आश्रव भावना' है। जैसे—समुद्रपाल मुनि।

८ संवर—आश्रव के सभी दोष संवृत आत्मा पर अपना प्रभुत्व नहीं दिखा सकते, अतः व्रतप्रत्याख्यान रूप संवर धारण करना चाहिए, ऐसा चिन्तन करना, 'संवर भावना' है। जैसे—हरिकेशी मुनि।

९ निर्जरा—सकामा और अकामा इन भेदों से निर्जरा दो तरह की है। ज्ञानपूर्वक तपस्या के जरिये कर्मों का क्षय करना सकामा है तथा बिना समझे भूख प्यास आदि दुःखों को सहन करने से जो कर्मों का आंशिक क्षय होता है, वह अकामा है, निर्जरा किये बिना संसार से छुटकारा नहीं है, यह चिन्तन करना 'निर्जराभावना' है। जैसे—अर्जुन माली।

१० लोक—कमर पर दोनों हाथों को रखकर और दोनों पैरों को फैलाकर खड़े हुए पुरुष की आकृति के समान यह लोक है, जिसमें धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य भरे पड़े हैं। ऐसा चिंतन करना 'लोक स्वभावभावना' है। जैसे—शिवराज ऋषि।

११ बोधिदुर्लभ—संसार में अनन्त काल से जीव परिभ्रमण कर रहा है, अनेक बार चक्रवर्ती के समान ऋद्धि पाया, मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, आर्य देश भी पाया, परन्तु सम्यक् धर्म पाना अत्यन्त कठिन है, ऐसा चिन्तन करना 'बोधिदुर्लभ भावना' कही जाती है। जैसे—ऋषभनाथ भगवान् के अठ्ठाणु-पुत्र।

१२ धर्म—संसार समुद्र से पार उतरने में नौका के समान समर्थ श्रुत चारित्र धर्म का उपदेश करने वाले, पंचविध आचार को धारण करने वाले, अरिहन्त आदि का मिलना कठिन है, तथा उनके कहे हुए धर्म का पाना भी मुश्किल है, ऐसे विचार को 'धर्मभावना' कहते हैं। जैसे—धर्मरुचि अनगार।

नीचे की गाथाओं में पांच चारित्रों का वर्णन करते हैं-

सामाइयत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीअं।
परिहारविसुद्धीअं, सुहुमं तह संपरायं च ॥३२॥
तत्तो अ अहक्खायं, खायं सव्वंमि जीवलोगंमि।
जं चरिऊण सुविहिया, वच्चंतयरामरं ठाणं ॥३३॥

सामायिकमथ प्रथमं, छेदोपस्थापन भवेद् द्वितीयम् ।
परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्म तथा सपरायं च ॥३२॥
ततश्च यथाख्यात, ख्यातं सर्वस्मिन् जीवलोके ।
यच्चरित्वा सुविहिता, गच्छन्त्यजरामरं स्थानम् ॥३३॥

अर्थ—पहला सामायिक चारित्र, दूसरा छेदोपस्थापनीय चारित्र, तीसरा परिहार विशुद्धिक चारित्र, चौथा सूक्ष्मसांपराय चारित्र, है, पांचवाँ यथाख्यात चारित्र सब लोक में प्रसिद्ध है, जिसको भलभाँति सेवन करके जीव शाश्वत अजरामरस्थान (मोक्ष) को पाते हैं।

चारित्रों का स्वरूप—

१—सदोष व्यापार का त्याग और निर्दोष व्यापार का सेवन अर्थात् जिससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति हो, उसको सामायिक चारित्र कहते हैं,

२—पूर्व पर्याय का छेद होने से शिष्य को प्रधान साधु पुन. पंचमहाव्रत पर आरूढ़ करते हैं, उस चारित्र को छेदोपस्थानीय कहते हैं, ७ रोज; चार महिने या छह महिने बाद जो बड़ी दीक्षा दी जाती है, वह और किसी साधु साध्वी को बड़ा दोष सेवन करने पर छह जीवनी का पाठ आचार्य श्री, प्रवर्तक आदि सुनाते हैं वह, तथा केशी श्रमण भगवान चार महाव्रत

वाली प्ररूपणा को छोड़कर पाँच महाव्रत की प्ररूपणा स्वीकार किये वह, इन सभी का समावेश इसी चारित्र में है।

३—नव साधु गच्छ से अलग होकर सिद्धान्त में लिखी हुई विधि के अनुसार अठारह मास तक तप करते हैं, उसे परिहारविशुद्धिक चारित्र कहते हैं।

४—जहाँ पर सूक्ष्म लोभ का अंश मात्र रह गया है, ऐसे दशवें गुणस्थान में पहुँचे हुए साधु के चारित्र का सूक्ष्मसांपराय चारित्र कहते है।

५—सूक्ष्मसांपराय चारित्र के बाद कषाय रहित हो जाने पर जो चारित्र मिलता है उसको 'यथाख्यात' चारित्र कहते हैं। इसी चारित्र की प्राप्ति होने पर अजर अमर स्थान (मोक्ष) मिलता है।

अपने भरतक्षेत्र में इस समय प्रथम के दो चारित्र हैं। शेष तीन चारित्रों का विच्छेद (लोप) हो गया है।

इति संवर तत्त्व सम्पूर्ण

निर्जरा तत्त्व

नीचे की गाथा मे निर्जरा व बन्ध के भेद बतलाते हैं—

बारसविहं तवो, निज्जरा य बंधो चउविगप्पो य।
पयइठिइअणुभाग-पएस भेएहिं नायव्वो ॥३४॥

द्वादशविधं तपो निर्जरा च बन्धश्चतुर्विकल्पश्च।
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदैर्ज्ञातव्यः॥ ३४॥

अर्थ—बारह प्रकार के जो तप हैं, उन्हीं का नाम निर्जरा है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार विकल्पों से बन्ध को चार प्रकार का जानना चाहिए।

विशेषार्थ--जीव प्रदेशों में बंधे हुए कर्म पुद्गलों को आत्म-प्रदेश से अंशतः पृथक् करने वाले क्रिया-कलाप को निर्जरा कहते हैं, और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि कारणों द्वारा जीव-प्रदेशों में नूतन कर्म पुद्गलों का जो संचय होता है, उसको बन्ध कहते हैं। निर्जरा १२ प्रकार की होती है, बन्ध ४ प्रकार के होते हैं।

नीचे की २ गाथाओं से निर्जरा के १२ भेदों को दिखाते हैं—

अणसणमूणोयरिया, वित्तिसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीयणा य बज्झो तवो होइ ॥३५॥

अनशनमूनोदरता वृत्तिसंक्षेपणं रसत्यागः।
कायक्लेशः संलीनता च बाह्यं तपो भवति ॥३५॥

अर्थ—अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, काय-क्लेश और सलीनता ये छह प्रकार के बाह्यतप हैं।

विवरण—

१—आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है, वह दो प्रकार का होता है— 'इत्वर' और 'यावत्कथिक'। थोड़े दिन का अनशन करना 'इत्वर' कहलाता है और यावज्जीव का अनशन 'यावत्कथिक' कहलाता है।

२—भूख से कुछ कम आहार करना 'ऊनोदरता' कह-लाती है।

३—जीवन के निर्वाह की चीजों का संक्षेप (कमी) करना 'वृत्ति संक्षेप' कहलाता है। जैसे—एक दाती, दो दाती आदि नियम तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अभिग्रह आदि से आहार लेना भी वृत्तिसंक्षेप है।

४—रस वाले अर्थात् विशिष्ट रस वाले दुग्ध, दधि, घृत, तैल, गुड़, शर्करा आदि पदार्थ जो कामोत्तेजक होते हैं, उनका त्याग करना 'रसत्याग' है। जैसे—नीवी, आयंबिल वगैरह।

५—आगम में बताए हुए विधि के अनुसार अर्थात् केश-लुञ्चन, कायोत्सर्ग आदि के द्वारा साधु लोग तथा व्रतधारी श्रावक शारीरिक कष्ट सहते हैं, वह काय-क्लेश है।

६—ज्ञान, दर्शन और चरित्र में आत्मा को जिस प्रकार भलीभाँति संलीन (रमण) किया जाय, उसको संलीनता कहते हैं, इसके इन्द्रिय, कषाय, योग, विविक्तचर्या इन भेदों से चार प्रकार हैं। सभी इन्द्रियों को विषयों से हटा लेना 'इन्द्रिय संली-नता' है, क्रोध आदि कषायों को जीत लेना 'कषाय संलीनता' है। विना प्रयोजन मन, वचन, काया का प्रयोग न करना 'योग संलीनता' है, स्त्री, पशु, पंडक रहित, एकान्त भवन में निवास 'विविक्तचर्या' संलीनता कहलाती है।

इन ६ प्रकार के तपों से सङ्गत्याग, शरीर लाघव, इन्द्रिय विजय, संयमरक्षण, कर्मनिर्जरा आदि अनेक फल प्राप्त होते हैं।

अब निर्जरा के शेष ६ भेद आभ्यन्तर तप के नाम से नीचे की गाथा में दिखलाते हैं—

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गो वि अ, अब्भिंतरओ तवो होइ ॥३६॥

प्रायश्चित्तं विनयो वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः ।
ध्यानमुत्सर्गोऽपि चाभ्यन्तरकं तपो भवति ॥३६॥

अर्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और उत्सर्ग ये ६ आभ्यन्तर तप हैं।

१—जो दोष अपने से सेवन किया गया हो, उसकी आलोचना, गुरु के पास करना, पाप विशुद्धि के लिये गुरु जो तप बतलावें, उसे करना 'प्रायश्चित्त' कहलाता है।

२—देव, गुरु, माता, पिता आदि पूज्यवर्ग का आदर सत्कार करना, उन्हें अपने प्रशंसनीय आचरण से संतुष्ट रखना, 'विनय' कहलाता है।

३—आचार्य, उपाध्याय, साधु, साधर्मिक संघ, तपस्वी आदि को अन्न-जल, वस्त्र, औषध स्थानादि से भक्ति बहुमान पूर्वक, उनको शान्ति उपजाना, तथा आज्ञा पालन करना और सेवा सुश्रूषा करना 'वैयावृत्य' कहलाता है।

४—पढ़ना, पढ़ाना, संदेह होने पर गुरु से पूछना, पढ़े हुये ग्रन्थ की पुनः पुनः आवृत्ति करना, मनन करना, धर्मोपदेश देना, उसे 'स्वाध्याय' कहते हैं।

५—चित्त, मर्कट (बानर) के समान चंचल है, उसको किसी एक ध्येय या वस्तु पर लगाकर स्थिर रखना 'ध्यान' कह-

लाता है। ध्यान के चार भेद हैं। आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान।

धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान ही निर्जरा के कारण हैं। अतः ग्राह्य हैं। आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान संसार वृद्धि के कारण त्याज्य हैं।

चारों ध्यानों का संक्षिप्त वर्णन—

धर्म ध्यान—ज्ञान, दर्शन और चारित्र, वैराग्य आदि की भावना करना, सर्वज्ञ वीतराग के उपदेश रूप सिद्धान्त में सन्देह न करके उस पर पूरी श्रद्धा रखना, राग, द्वेष, क्रोध, काम, लोभ, मोह आदि, इस लोक तथा परलोक मे भी दुःख देने वाले हैं, ऐसा चिन्तन करना, सुख-दुःख प्राप्त होने पर हर्ष और शोक न कर, पूर्व कर्म का फल मिल रहा है ऐसा समझना, जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए छह द्रव्यो का विचार करना, ये सब धर्म ध्यान कहलाता है।

शुक्ल—शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क सविचार, एकत्ववितर्क अविचार, 'सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति' 'व्युपरतक्रिया अनिवृत्ति'।

१—द्रव्य, गुण और पर्याय की जुदाई को पृथक्त्व कहते हैं। अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभवरूप भावश्रुत, वितर्क कहलाता है और मन, वचन और काय इन तीन योगों में से एक योग ग्रहण कर दूसरे में संक्रमण करना विचार कहलाता है।

२—आत्म-द्रव्य में या उसके विकार रहित सुख के अनुभवरूप पर्याय में या निरुपाधि ज्ञानरूप गुण में आत्मानुभाव

रूप भावश्रुत के बल से स्थिर होकर द्रव्य, गुण और पर्यायो का विचार करना, उसे एकत्व वितर्क अविचार कहते हैं।

३—तेरहवें गुण स्थान के अन्त मे मनोयोग और वचनयोग रोकने के बाद काययोग को रोकने मे प्रवृत्त होना; उसे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति कहते हैं।

४—तीनों योगों का अभाव होने पर फिर च्युत न होने वाला, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख का एकरस अनुभव करना उसे व्युपरतक्रिया अनिवृत्ति कहते हैं।

आर्तध्यान—मित्र, माता, पिता आदि की मृत्यु होने पर शोक करना, कोढी, रोगी आदि को देखकर घृणा करना, शरीर में कोई रोग होने पर उसी की चिन्ता करना, इस जन्म में किए हुए दान आदि तप का दूसरे जन्म मे अच्छे फल पाने की चिन्ता करना, ये सब 'आर्तध्यान' कहलाते हैं।

रौद्रध्यान—द्वेष से किसी जीव को मारने या उसे कष्ट पहुँचाने की चिन्ता करना, छल, कपट करके दूसरे का धन लेने की चिन्ता करना, हिस्सेदार, कुटुम्बी मर जाय तो मैं अकेला ही मालिक बन बैठूँगा, ऐसी चिन्ता करना ये सब 'रौद्रध्यान' कहलाते हैं।

आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान अनुक्रम से इस प्रकार कहने की परिपाटी है लेकिन निर्जरा तत्त्व में धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का ही समावेश होने से पहले इनका वर्णन किया गया है।

६—व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग तप के द्रव्य और भावरूप से दो भेद हैं। द्रव्यव्युत्सर्ग-गच्छ का त्याग करके 'जिनकल्प' स्वीकार करना, अनशनव्रत लेकर शरीर का त्याग, किसी कल्प-विशेष में उपधि का त्याग, सदोष आहार का त्याग, ये सब द्रव्य व्युत्सर्ग हैं।

भावव्युत्सर्ग—क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग, नरक आदि योनि की आयु बांधने में कारणभूत मिथ्याज्ञान आदि का त्याग, ज्ञान के आवरण करने वाले ज्ञानावरणीय आदि कर्म का त्याग ये सब भावव्युत्सर्ग कहलाते हैं।

(इति निर्जरातत्त्व)

बन्धतत्त्व

३४ वीं गाथा में बन्ध के चार नाम कह आये हैं, अब नीचे की गाथा में उनके स्वरूप बतलाते हैं—

पयइ सहावो वुत्तो, ठिई कालावहारणं।
अणुभागो रसो णेयो, पएसो दलसंचओ ॥३७॥

प्रकृतिः स्वभाव उक्तः स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसंचयः ॥३७॥

अर्थ—कर्म का स्वभाव 'प्रकृतिबन्ध' कहा जाता है, कर्म के काल का निश्चय 'स्थिति बन्ध' कहलाता है, कर्म का रस 'अनुभागबन्ध' और कर्म के दल का संचय 'प्रदेश बन्ध' कहलाता है।

विवरण—

१—जिस तरह वात, पित्त, कफ को हरण करने वाली चीजों से बने हुए लड्डू का स्वभाव वात, पित्त आदि को दूर करने का है, उसी तरह किसी कर्म का स्वभाव दर्शन का आवरण करने का है, किसी कर्म का स्वभाव दर्शन का आवरण करने का है तो किसी कर्म का स्वभाव चारित्र का प्रतिबन्धक है, इन स्वभावों को 'प्रकृतिबन्ध' कहते हैं।

२—जैसे बना हुआ लड्डू १५ दिन, एक महीना या इससे भी अधिक दिन तक एक ही हालत में रहता है, विकृति को प्राप्त नहीं होता, लद्वत् कोई कर्म अन्तर्मुहूर्त तक, कोई कर्म वर्ष तक, कोई सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहता है, इसको 'स्थिति बन्ध' कहते हैं।

३—जिस तरह कोई लड्डू ज्यादा मीठा होता है कोई थोड़ा, कोई अधिक कड़ुआ होता है कोई अल्प, कोई ज्यादह तीखा होता है कोई थोड़ा इत्यादि प्रकार के रस वाला होता है, उसी तरह ग्रहण किये हुए कर्म दलों में तरतमभाव से देखा जाय तो किसी का रस-फल अधिक अशुभ होता है, किसी का अल्प, इसी तरह किसी कर्म का रस ज्यादा शुभ होता है और किसी का थोड़ा इत्यादि अनेक प्रकार का रस होता है, उसे 'रसबन्ध' कहते हैं। अनुभाग और रस दोनों का मतलब एक ही होता है।

४—जैसे कोई लड्डू पाव भर, कोई आध सेर या इससे अधिक परिमाण का होता है, उसी तरह कोई कर्मदल, परिमाण में कम होता है और कोई ज्यादा, अनेक प्रकार के परिमाण होते

हैं, इन परिमाणों को 'प्रदेशबन्ध' कहते हैं। अब नीचे की गाथा से कर्मों का स्वभाव दृष्टान्तों से बतलाते हैं—

पडपडिहाराऽसिमज्ज-हडचित्तकुलाल भंडकारीणं।
जह एएसिं भावा, कम्माण वि जाण तह भावा॥२८॥

पटप्रतिहारासिमद्यनिगडचित्रकारकुलालभांडागारिणाम्।
यथैतेषां भावाः कर्मणामपि जानत तथा भावान्॥२८॥

अर्थ—पट, प्रतिहारी, असि, मद्य, कारागृह, चित्रकार, कुलाल और भंडारी, इनके स्वभाव के सदृश कर्मों का स्वभाव जानना।

—विवरण—

१—जैसे आंख पर वस्त्र बाँध देने से कोई वस्तु देख नहीं पड़ती तद्वत् ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के अनन्त ज्ञान को ढँक देता है।

२—द्वारपाल के समान, दर्शनावरणीय कर्म का स्वभाव है, जिस प्रकार राजदर्शन चाहने वाले को द्वारपाल रोकता है, उसी तरह आत्मा के दर्शन गुण को दर्शनावरणीय कर्म रोक देता है।

३—वेदनीय कर्म का स्वभाव, शहद लगी हुई तलवार के सदृश है। यह कर्म आत्मा के अव्याबाध गुण को रोक देता है। तलवार की धार में लगे हुए शहद को चाटने के समान, साता वेदनीय कर्म का विपाक है, खड्गधारा से जीभ के कटने पर अनुभव में आती हुई पीड़ा के समान, असात वेदनीय कर्म का

विपाक है, खड्गधारा से जीभ के कटने पर अनुभव मे आती हुई पीड़ा के समान, असात वेदनीय कर्म का विपाक है। सांसारिक सुख, दुख से मिला हुआ है इसलिए निश्चय दृष्टि से सिवा आत्मसुख के, पुद्गल निमित्तक सुख, दुख रूप ही समझा जाता है।

४—मद्य के नशे के समान, मोहनीय कर्म का स्वभाव है, यह आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुण को ढंक देता है। जैसे मद्य के नशे में चूर, अपना हित, अहित नहीं समझ सकता इसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा को धर्म-अधर्म का भान नहीं रहता।

५—आयुकर्म का स्वभाव, कारागृह के समान है, यह कर्म आत्मा के 'अविनाशित्व, धर्म को रोक देता है। जिस प्रकार जेल मे पड़ा हुआ मनुष्य, उससे निकलना चाहता है, पर सजा पूर्ण हुए बिना नही निकल सकता, उसी तरह नरकादि योनि में पड़ा हुआ जीव, आयु पूर्ण किये बिना, उन योनियों से नहीं छूट सकता।

६—नामकर्म का स्वभाव चित्रकार जैसा है, यह कर्म आत्मा के 'अरूपित्व' धर्म को रोकता है। जैसे चितेरा भले बुरे अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म आत्मा को भले बुरे नाना प्रकार के देव, मनुष्य, नारक, तिर्यच बना देता है।

७—कुम्भार जैसा गोत्र कर्म है, यह कर्म आत्मा के अगुरुलघु गुण को रोकता है। कुंभार घी रखने के घड़े बनाता है और मद्य रखने के भी। घी का घड़ा अच्छा समझा जाता है और मद्य का बुरा। इसी तरह गोत्र कर्म के उदय से जीव ऊँच-नीच कुल में जन्म लेता है।

८—अनन्तराय कर्म का स्वभाव भण्डारी जैसा है। यह कर्म जीव के वीर्य गुण को तथा दान आदि लब्धियों को रोकता है। जैसे मालिक इच्छा होते हुए भी, दुष्ट भण्डारी के कारण दान आदि नहीं कर सकता, इसी प्रकार अन्तराय कर्म के उदय से जीव दान आदि नहीं कर सकता, न अपनी शक्ति का विकाश ही कर सकता है।

कर्मों की ८ मूल और १५८ उत्तर प्रकृतियाँ—

इह नाण दंसणावरण, वेय मोहाउ नाम गोयाणि।
विग्घं च पण नव दु अट्ठवीस चउ तिसय दु पणविहं ॥३६॥

अत्र ज्ञानदर्शनावरणवेदमोहायुर्नामगोत्राणि।
विघ्नं च पञ्च नव द्व्यष्टाविंशतिचतुस्त्रिशत द्विपञ्चविधम् ॥३६॥

शब्दार्थ—इह=यहां, नाणदंसणावरण=ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेय=वेदनीय, मोह=मोहनीय, आउ=आयुष्य, नाम=नाम, गोयाणि=गोत्र, विग्घं=अन्तराय, च=और, पण=पंच, नव=नौ, दु=दो, अट्ठवीस=अट्ठाईस, चऊ=चार तिसय=एक सौ तीन, दु=दो, पण=पांच, विहं=विध प्रकारवाला।

गाथार्थ—यहाँ ५ प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीयकर्म की, ९-दर्शनावरणीयकर्म की, २ वेदनीयकर्म की, २८ मोहनीय कर्म की, ४ आयुष्य कर्म की, १०३ नाम कर्म की, २ गोत्र कर्म की और ५ अंतराय कर्म की प्रकृतियाँ एवं उत्तर प्रकृतियाँ १५८ होती हैं। मूल कर्म ८ हैं, वे इस प्रकार हैं—१-ज्ञानावरणीय, २-दर्शनावरणीय, ३-वेदनीय, ४-मोहनीय, ५-आयु, ६-नाम, ७-गोत्र, ८-अन्तराय एवं मूलकर्म हैं।

नीचे की गाथा से ८ कर्मों की स्थिति बतलाते हैं—

वारस मुहुत्त जहन्ना, वेयणीए अट्ठनाम गोएसु ।
सेसाणंतमुहुत्तं, एयं बंधट्ठिई माणं ॥४०॥

द्वादश मुहूर्तानि जघन्यानि वेदनीयेऽष्ट नाम गोत्रयोः ।
शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् एतद्बन्धस्थितिमानम् ॥४०॥

अर्थ—वेदनीय कर्म की जघन्य अर्थात् कम से कम स्थिति १२ मुहूर्त की है। नामकर्म और गोत्र कर्म की ८ मुहूर्त की है। शेष कर्मों की अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयु और अन्तराय इन पांच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

नीचे की गाथाओं में आठ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं:—

नाणे अ दंसणावरणे, वेयणये चेव अन्तराए अ ।
तीसं कोडाकोडी अयराणं ठिई अ उक्कोसा ॥४१॥

सित्तरि कोडाकोडी मोहणीए वीस नाम गोएसु ।
तित्तीसं अयराइं, आउट्ठिइ बंध उक्कोसा ॥४२॥

ज्ञाने च दर्शनावरणे, वेदनीये चैवान्तराये च ।
त्रिंशत् कोटिकोट्योऽतराणां स्थितिश्चोत्कृष्टा॥ ४१॥

सप्ततिः कोटिकोट्यो मोहनीये विंशतिर्नामगोत्रयोः ।
त्रयस्त्रिंशदतराण्यायुः स्थितिबन्ध उत्कर्षात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट

स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागरोपम की है। नामकर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

(इति बन्धतत्त्व)

— मोक्षतत्त्व —

अब मोक्षतत्त्व का निरूपण करते हैं। मोक्ष सकल कर्म के क्षय से प्राप्त होता है। वह अतीन्द्रिय पदार्थ है, अतः उसको बताने के लिये ६ नव द्वार से उसकी प्ररूपणा की जाती है, उनको नीचे की गाथा मे दिखाते हैं:—

संतपयपरूवणा, दव्वपमाणं च खित्त फुसणाय।
कालो अंतरं भागे भावे अप्पाबहुं चेव ॥४३॥

सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणं च क्षेत्रं स्पर्शना च।
कालश्चान्तर [भागो भावोऽल्पबहुत्वं चैव ॥ ४३ ॥

अर्थ—सत्पदप्ररूपणा द्वार, द्रव्यप्रमाण द्वार, क्षेत्र द्वार, स्पर्शना द्वार, काल द्वार, अन्तर द्वार, भाग द्वार, भाव द्वार, अल्पबहुत्व द्वार। ये मोक्ष के नव द्वार हैं अर्थात् इनके द्वारा मोक्ष का स्वरूप समझा जाता है।

सत्पद प्ररूपणा द्वार कहते है:—

संतं सुद्धपयत्ता, विज्जंतं ख-कुसुमंव्व न असंतं।
मुक्खत्ति पयं तस्स उ परूवणामग्गणाईहिं ॥४४॥

सत् शुद्धपदत्वात् विद्यते खकुसुममिव न असत् ।
मोक्ष इति पद तस्य तु प्ररूपणा मार्गणादिभिः ॥४४॥

अर्थ—मोक्ष इस पद की सत्ता (अस्तित्व) है क्योंकि मोक्ष यह पद शुद्ध है, अर्थात् किसी दूसरे पद की सहायता से नहीं बना है। स्वतन्त्र है, खकुसुम के समान इसकी असत्ता नहीं है, इस तरह अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर इसकी प्ररूपणा मार्गणाओं द्वारा करनी चाहिए।

विशेषार्थ—शब्द प्रायः दो तरह के मिलते हैं। १—शुद्ध अर्थात् जिसमे दूसरे पद का योग नहीं है, जैसे घट, पट, कम्बल आदि, ऐसे पदों के वाच्य (अर्थ) अवश्य अपने को मिलते हैं। जैसे-'घट' यह वाचक शब्द हैं इसका वाच्य (अर्थ) होता है—मोटा गोल आकृति वाला, जल को धारण करने वाला मिट्टी का एक पदार्थ, इसी तरह 'पट' इस वाचक शब्द का अर्थ होता है-अंग को आच्छादन करने वाला तन्तुमय पदार्थ। इस तरह घट, पट, इन शब्दों का अर्थात् असंयुक्त व असमस्त पदों का वाच्य मिलता है परन्तु जो संयुक्त व समस्त पद है, उनका वाच्यार्थ कहीं मिलता है और कहीं नहीं भी मिलता है। जैसे-गोशृङ्ग, खरशृङ्ग ये दो शब्द हैं, ये दोनों यौगिक हैं, समास से बने हुए हैं। उनमें गोशृङ्ग का वाच्य होता है गौ का सींग, वह तो बराबर मिलता है परन्तु 'खरशृङ्ग' का वाच्य है 'गधे का सींग' उसका मिलना दुनिया में असम्भव है। इससे सिद्ध हो गया कि असयुक्त व असमस्त पद जो शुद्ध हैं, उनका वाच्य निश्चय से (अवश्य ही) मिलता है और जो यौगिक पद हैं जैसे-खपुष्प='ख' याने आकाश, पुष्प माने फूल अर्थात् आकाश का फूल, इनका वाच्य नहीं मिलता है। अतः मोक्ष शब्द शुद्ध होने से इसका वाच्य भी अवश्य है।

सत्पदप्ररूपणा द्वार के बाद द्रव्यप्रमाण द्वार का कथन करना चाहिये, परन्तु ऊपर की गाथा में कह दिया है कि 'परूवणामग्गणाईहिं' अर्थात् मोक्ष की प्ररूपणा मार्गणाओ द्वारा करनी चाहिए, अतः द्रव्यप्रमाण द्वार को छोड़कर प्रसङ्गवश नीचे की गाथा से मार्गणाओं को दिखाते हैं—

नरगई पणिंदि तसभव सन्नि अहक्खाय खइयसम्मत्ते ।
मुक्खोऽणाहारकेवल दंसण नाणे न सेसेसु ॥४५॥

नरगतिपञ्चेन्द्रिय त्रस भव सञ्ज्ञि यथाख्यात क्षायिकसम्यक्त्वे ।
मोक्षोऽनाहार केवलदर्शनज्ञानेषु न शेषेषु ॥ ४५ ॥

अर्थ—मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रसकाय, भवसिद्धिक, संज्ञी, यथाख्यातचारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहार, केवल ज्ञान, केवल दर्शन इन दस मार्गणाओं के द्वारा मोक्ष मिलता है, शेष मार्गणाओं से नहीं ।

सम्पूर्ण जीव द्रव्य का जिसके जरिये विचार किया जाय, उसे मार्गणा कहते हैं । मार्गणा के मूलभूत चौदह भेद हैं और उत्तर भेद बासठ ।

१—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतियों में से सिर्फ मनुष्य गति से मोक्ष मिलता है, अन्य तीन गतियों से नहीं ।

२—इन्द्रियमार्गणा के पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय, इनमें से पंचेन्द्रिय से मोक्ष होता है, अर्थात् पाचों इन्द्रियाँ पाया हुआ जीव मोक्ष जा सकता है । अन्य नहीं ।

३—काय मार्गणा के छह भेद हैं—पृथ्वी काय, अप्काय, तेजस्काय, वायु काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इनमे से

त्रसकाय के जीव मोक्ष जा सकते हैं, अन्यकाय के नहीं।

४—भवसिद्धिक मार्गणा के दो भेद हैं—भवसिद्धिक अभवसिद्धिक, इनमें से भवसिद्धिक अर्थात् भव्यजीव मोक्ष जा सकते हैं, अभव्य नहीं।

५—संज्ञी मार्गणा के दो भेद हैं—सञ्ज्ञी मार्गणा और असंज्ञी मार्गणा, इनमें से संज्ञीजीव मोक्ष जा सकते हैं, असंज्ञी नहीं।

६—चारित्रमार्गणा के पाँच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र, इनमें से 'यथाख्यात' चारित्र प्राप्त होने पर जीव मोक्ष में जाता है, अन्य चारित्र से नहीं।

७—सम्यक्त्व मार्गणा के पाच भेद है—औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक; वेदक और क्षायिक, इनमें से क्षायिक सम्यक्त्व का लाभ होने पर जीव मोक्ष जाता है, अन्य सम्यक्त्व से नहीं।

८—अनाहार मार्गणा के दो भेद हैं—अनाहारक और आहारक। इनमें से अनाहारक जीव को मोक्ष होता है, आहारक अर्थात् आहार करने वाले को नहीं।

९—ज्ञान मार्गणा के पांच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यवज्ञान, और केवल ज्ञान। इनमें से केवल—ज्ञान होने पर मोक्ष होता है, अन्य ज्ञान से नहीं।

१०—दर्शनमार्गणा के चार भेद है—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनमे से केवल दर्शन होने पर मोक्ष होता है अन्य दर्शन से नहीं।

कुल मार्गणायें कितनी हैं, उनको नीचे की गाथा से बताते हैं—

गइ इंदिए य काए, जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेस्सा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥४६॥

गतिरिन्द्रियश्च कायो, योगो वेदः कषायज्ञाने च।
संयमदर्शनलेश्याः भवसम्यक्त्वे संज्ञ्याऽऽहारे ॥ ४६ ॥

अर्थ—गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा, योग-मार्गणा, वेदमार्गणा, कषायमार्गणा, ज्ञानमार्गणा, संयममार्गणा, दर्शनमार्गणा, लेश्यामार्गणा, भव्यमार्गणा, सम्यक्त्वमार्गणा, सञ्ज्ञीमार्गणा, आहारमार्गणा, ये १४ मार्गणायें हैं। इनमें से योग, वेद, कषाय, लेश्या वालों को मोक्ष होता ही नहीं अतः दश का नाम बताकर फिर बताया 'न सेसेपु' (न शेषेषु), पद से इन (योग, वेद, कषाय और लेश्या) चारो को समझें।

अब क्रम प्राप्त द्रव्य प्रमाण तथा क्षेत्र प्रमाण से मोक्ष का निरूपण करते हैं—

दव्व पमाणे सिद्धाणं जीव दव्वाणि हुंति णंताणि।
लोगस्स असंखिज्जे भागे इक्को य सव्वे वि ॥४७॥

द्रव्यप्रमाणे सिद्धाना जीवद्रव्याणि भवन्त्यनंतानि।
लोकस्यासंख्येये भागे एकश्च सर्वेऽपि ॥ ४७ ॥

अर्थ—द्रव्य प्रमाण से सिद्ध जीव द्रव्य अनन्त हैं, क्षेत्र प्रमाण से लोक के असंख्यातवें भाग मे हैं।

द्रव्य प्रमाण के विवेचन में यदि कोई प्रश्न करे कि सिद्ध जीव कितने हैं? तो उसका उत्तर यह है कि सिद्ध जीव अनन्त हैं।

सारांश यह है कि जब कभी सिद्ध जीव द्रव्य की संख्या का प्रश्न उठता है, उस समय यही उत्तर जैन दर्शन के अनुसार होता है कि एक निगोद में जितने जीव हैं, उनके अनन्तवें भाग के जीव मोक्ष में गये हैं। इसी तरह क्षेत्र द्वार से प्रश्न किया कि वे अनन्त सिद्ध कितने क्षेत्र में रहते हैं? तो उत्तर होता है कि एक सिद्ध अथवा वे सभी सिद्ध लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं।

अब नीचे की गाथा से स्पर्शना, काल व अन्तर का वर्णन करते हैं—

फुसणा अहिया, कालो इगसिद्ध पडुच्च साइओणंतो।
पडिवायाऽभावाओ, सिद्धाणं अंतरं नत्थि ॥४८॥

स्पर्शना अधिका कालः एक सिद्धं प्रतीत्य सादिकोऽनन्तः।
प्रतिपाताभावात्, सिद्धानामन्तरं नास्ति ॥ ४८ ॥

अर्थ—अवगाहना की अपेक्षा सिद्ध जीवों की स्पर्शना अधिक है, एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध का काल सादि और अनन्त है, सिद्धगति में गये हुए जीव पुनः ससार में नहीं आते हैं, अतः अन्तर नहीं है।

विशेषार्थ—

१—सिद्धो की जितनी अवगाहना है उससे स्पर्शना अधिक है, कारण कि जितने आत्म प्रदेश हैं, अवगाहना तो उतनी ही रहेगी, परन्तु अवगाहना के चारो तरफ नीचे, ऊपर आकाश प्रदेश लगे हुए हैं, अतः स्पर्शना अधिक है।

२—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्धकाल सादि और अनंत है क्योंकि जिस समय वह जीव मोक्ष में गया वह काल उसका

आदि हुआ परन्तु पुनः उस जीव का मोक्षगति से पतन नहीं होता है, अत. अनन्त है। सब सिद्धो की अपेक्षा विचार करें तो मोक्ष का काल अनादि और अनन्त है, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक जीव सबसे प्रथम सिद्ध हुआ।

२—अन्तर कहते हैं व्यवधान को, यदि सिद्ध अपनी अवस्था से पतित होकर दूसरी योनि में जायँ, फिर वहाँ से सिद्ध गति प्राप्त करें तो अन्तर हो सकता है परन्तु यह असम्भव है कारण कि सिद्धगति मे गया हुआ जीव अष्ट कर्मों से मुक्त होने के कारण फिर संसार में आता नहीं है। अथवा—सिद्धों में क्षेत्रकृत अन्तर नहीं है अर्थात् जहाँ एक सिद्ध हैं वहाँ अनेक सिद्ध हैं, इसलिये सिद्धों में कालकृत, क्षेत्रकृत दोनों अन्तर नहीं हैं।

नीचे की गाथा मे भागद्वार और भावद्वार बताते हैं—

सव्वजीवाणमणंते भागे ते तेसिं दंसणं नाणं।
खइए भावे परिणामिए, अ पुण होइ जीवत्तं ॥४९॥

सर्वजीवानामनन्ततमे भागे ते तेषां दर्शन ज्ञान।
क्षायिके भावे पारिणामिके च पुनर्भवति जीवत्वम् ॥४९॥

अर्थ—संसारी जीवों के अनन्तवे भाग में सिद्ध जीव हैं, सिद्धों का केवल ज्ञान और केवल दर्शन क्षायिक भाव से है और जीवत्व पारिणामिक भाव से है।

विशेषार्थ—

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव हैं-जो तत्तत् विशेष कारणों से प्राप्त होकर जीव को-उच्च, उच्चतर, उच्चतम या साधारण अवस्था में लाते हैं।

किसी कर्म के क्षय से होने वाले भाव को क्षायिक भाव कहते हैं।

क्षायिकभाव जब जीव को प्राप्त होता है, उस समय, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, केवल ज्ञान केवल दर्शन आविर्भाव में आते है।

उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखने वाले जीव के स्वभाव को पारिणामिक भाव कहते हैं। पारिणामिक भाव से भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व का आविर्भाव होता है, क्षायिकभाव के भेदो में से सिर्फ केवल ज्ञान और केवल दर्शन एवं पारिणामिक भाव में से सिर्फ जीवत्व सिद्धो को है, शेष नहीं है।

नीचे की गाथा में अल्पबहुत्व द्वार बतलाते हैं—

थोबा नपुंससिद्धा थी नर सिद्धा कमेण संखगुणा।
इयमुक्खतत्तमेअं नवतत्ता लेसओ भणिया ॥३०॥

स्तोकाः नपुंसकसिद्धाः स्त्रीनरसिद्धाः क्रमेण सख्यगुणा।
एतन्मोक्षतत्त्वमेव नवतत्त्वानि लेशतो भणितानि ॥ ५० ॥

अर्थ—नपुंसक सिद्ध सबसे कम हैं, उनसे सख्यात गुण अधिक स्त्री लिंग सिद्ध हैं, स्त्री लिंग सिद्ध से संख्यातगुण अधिक पुरुष लिंग सिद्ध हैं।

दो तरह के नपुंसक होते हैं। १—जन्म सिद्ध और २—कृत्रिम (बनावटी)। जन्म सिद्ध नपुंसकों को मोक्ष नहीं मिलता। कृत्रिम नपुंसक एक समय मे उत्कृष्ट दश तक मोक्ष में जाते हैं। स्त्रियाँ एक समय में उत्कृष्ट २० तक मोक्ष में जाती है और पुरुष एक समय मे उत्कृष्ट १०८ तक मोक्ष जाते हैं।

यह मोक्षतत्त्व है। इस तरह नवतत्त्व का संक्षेप से वर्णन हुआ।

नीचे की गाथा में सिद्धों के १५ भेद बतलाते हैं—

जिण अजिणतित्थऽतित्था, गिहि-अन्न-सलिंग थीनर नपुंसा।
पत्तेय सयंबुद्धा वुद्धवोहिक्कणिक्काय ॥५१॥

जिनाजिनतीर्थातीर्थे गृह्यन्यस्वलिङ्गस्त्रीनरनपुंसकाः ।
प्रत्येकस्वयबुद्धौ वुद्धवोधितकानेकाश्च ॥ ५१ ॥

अर्थ—तीर्थङ्कर सिद्ध, २—अतीर्थङ्कर सिद्ध, ३—तीर्थ-सिद्ध, ४—अतीर्थ सिद्ध, ५—गृहस्थ लिंग सिद्ध, ६—अन्य लिंग सिद्ध, ७—स्वलिंग सिद्ध, ८—स्त्रीलिंग सिद्ध, ६—पुरुषलिंग सिद्ध, १०—नपुंसक लिंग सिद्ध, ११—प्रत्येक वुद्ध सिद्ध, १२—स्वयंवुद्ध सिद्ध, १३—वुद्धबोधित सिद्ध, १४—एक सिद्ध, १५—अनेक सिद्ध ये १५ सिद्ध के भेद हैं।

इनके उदाहरण नीचे की गाथाओं से दिखाते हैं—

जिण सिद्धा अरिहंता, अजिण मिद्धा पुंडरीय पमुहा।
गणहारि तित्थसिद्धा अतित्थसिद्धा य मरुदेवी ॥५२॥

जिनसिद्धा अर्हन्तः, अजिनसिद्धाश्च पुण्डरीकप्रमुखाः।
गणधारिणस्तीर्थसिद्धाः, अतीर्थसिद्धाच मरुदेवी ॥५२॥

अर्थ—जिन्होंने तीर्थङ्कर पदवी प्राप्त करके मुक्ति पाई वे जिनसिद्ध हैं। जैसे—भगवान् ऋषभदेव आदि २४ तीर्थङ्कर।

२—जिन्होंने तीर्थङ्कर पदवी नहीं प्राप्त की किन्तु सामान्य केवली होकर, मुक्ति पाई हैं, वे अजिन सिद्ध हैं। जैसे—पुण्डरीक आदि।

३—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ स्थापन होने के बाद जिन्होंने मुक्ति पाई वे तीर्थ सिद्ध हैं। जैसे—गौतम स्वामी आदि गणधर।

४—चार तीर्थ स्थापन के पहले जिन्होने मुक्ति पाई, वे अतीर्थ सिद्ध हैं। जैसे—मरुदेवी आदि।

गिहिलिंग सिद्ध भरहो, वक्कलचीरी य अन्नलिंगम्मि।
साहू सलिंग सिद्धा, थीसिद्धा चंदणा पमुहा ॥५३॥

गृहिलिङ्गसिद्धो भरतो, वल्कलचीरी चान्यलिङ्गे।
साधव स्वलिङ्गसिद्धाः, स्त्रीसिद्धाश्चन्दना प्रमुखाः ॥५३॥

अर्थ—५-गृहस्थ के वेष में जिन्होंने मुक्ति पाई है, वे गृहस्थ-लिंग सिद्ध हैं। जैसे—भरत चक्रवर्ती आदि।

६—जैन वेष से अन्य वेष अर्थात् संन्यासी आदि वेषों में जिन्होंने मुक्ति पाई है वे अन्य लिंग सिद्ध हैं। जैसे—वल्कल-चीरी आदि।

७—रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि वेष में रहकर जिन्होंने मुक्ति पाई वे स्वलिंग सिद्ध हैं। जैसे—जैन साधु।

८—स्त्री लिंग सिद्ध जैसे चन्दनबाला आदि।

पुंसिद्धा गोयमाइ, गांगेय पमुह नपुंसया सिद्धा।
पत्तेय सयंबुद्धा, भणिया करकंडु कविलाई ॥५४॥

पुंसिद्धा गौतमादयो, गाङ्गेयप्रमुखा नपुंसकाः सिद्धाः।
प्रत्येक स्वयंबुद्धा· भणिताः करकण्डु कपिलादयः ॥ ५४ ॥

९—पुरुष लिंग सिद्ध, जैसे गौतम आदि।

१०—नपुंसक लिग सिद्ध, जैसे—भीष्म आदि।

११—किसी अनित्य, अस्थिर पदार्थ को देख कर विचार करते २ बोध हुआ और केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति पाई वे प्रत्येक बुद्ध सिद्ध हैं। जैसे करकंडू राजा आदि।

१२—बिना उपदेश के पूर्व जन्म का संस्कार जागृत होने

पर जिन्हें ज्ञान हुआ और सिद्ध हुए वे स्वयंबुद्ध सिद्ध हैं। जैसे—कपिल आदि।

तह बुद्धबोहि गुरुबोहिया य इग समय एग सिद्धा य।
इग समये वि अणेगा सिद्धा ते णेग सिद्धा य ॥५५॥

तथा बुद्धबोधिता गुरुबोधिताश्चैकसमये एक सिद्धाश्चः।
एक समयेऽप्यनेकाः सिद्धास्तेऽनेकसिद्धाश्च ॥ ५५ ॥

१३—गुरु के उपदेश से ज्ञानी होकर जो सिद्ध हुए वे बुद्ध बोधित सिद्ध हैं। जैसे जम्बूस्वामी।

१४—एक समय में एक ही जीव मोक्ष जाने वाला एक सिद्ध है। जैसे—भगवान् महावीर स्वामी आदि।

१५—एक समय में अनेक जीव मुक्त हुए वे अनेक सिद्ध हैं। जैसे भगवान् ऋषभदेव आदि।

मोक्षतत्त्व जानने का आशय—

इस मोक्ष तत्त्व में, श्री सिद्ध परमात्मा का स्वरूप समझ कर आत्मा स्वयं ऐसा विचार करे कि मैं और अखण्ड चिदानन्दमय शुद्ध स्वरूपी सिद्ध परमात्मा तो स्वभाव दशा में सत्ता-रूप में समान ही हैं। सिद्ध परमात्मा भी पहले मेरे जैसे ही विभावदशा में (पौद्गलिक सुखोपलुब्ध) एक ससारी जीव थे, परन्तु परमात्मा ने गृहस्थाश्रम तथा श्रमणावस्था में स्वात्म वीर्य से कर्म बन्धनों को तोडकर, उस विभाव दशा को दूर करके आत्मा के सहज स्वभाव को प्रगट किया और निर्वाण प्राप्त कर चौदह राजू लोक के अन्त मे अक्षय स्थिति प्राप्त कर परम विशुद्ध दशा रूप सिद्ध परमात्मा पद प्राप्त किया है और मैं अभी तक विभाव दशा मे रमण कर रहा हूँ। इसलिए मैं भी ऐसा आत्म-बल प्रगट करूँ तो सिद्ध परमात्मा हो सकता हूँ। ऐसा समझ

कर आत्मा स्वतः सिद्ध दशा को प्रगट करने के सन्मुख हो और धन, कुटुम्ब, शरीर आदि बाह्य बन्धनो को तथा काम और क्रोधादि आभ्यन्तर बन्धनों को तोड़कर, स्वस्वभाव प्रगट करे और मुक्त होकर परमात्मपद प्राप्त करे। यही इस मोक्ष तत्त्व के जानने का मुख्य उद्देश्य है।

इति मोक्षतत्त्व

यह नव तत्त्व जानने से क्या लाभ होता है, सो निम्न गाथा से बताते हैं—

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणे वि सम्मत्तं ॥५६॥

जीवादि नवपदार्थान् यो जानाति तस्य भवति सम्यक्त्वम्।
भावेन श्रद्धान॰, अजानन्नपि सम्यक्त्वम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो जीवादि नव पदार्थों को जानता है उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है, जीवादि पदार्थों को नहीं जानने वाले भी यदि शुद्ध अन्तःकरण से श्री जिनेन्द्र कथित नवतत्त्वो पर श्रद्धा रखते हैं तो उन्हें भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है। तथा—

सव्वाइ जिणेसरभासिआइं वयणाइ नन्नहा हुंति।
इय बुद्धि जस्स मणे, सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥५७॥

सर्वाणि जिनेश्वरभाषितानि वचनानि नान्यथा भवन्ति।
इति बुद्धिर्यस्य मनसि, सम्यक्त्वं निश्चलं तस्य ॥ ५७ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए सभी वचन सत्य हैं, ऐसी जिसकी बुद्धि हो उसे निश्चय से सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

सम्यक्त्व प्राप्त होने का क्या फल है वह नीचे की गाथा में बतलाते हैं—

अंतोमुहुत्तमित्तं-पि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल-परिअट्टो चेव संसारो ॥५८॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रमपि स्पर्शित भवेद् यैः सम्यक्त्वम् ।
तेषामपार्द्धपुद्गलपरावर्तश्चैव संसार. ॥ ५८ ॥

अर्थ—जिन जीवों ने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी समकित की स्पर्शना कर ली, उनको उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गल परावर्त से अधिक संसार में परिभ्रमण करना नहीं पड़ता है अर्थात् उसके अन्दर अवश्य मोक्ष मिल जाता है ।

नीचे की गाथा से अर्द्धपुद्गल परावर्त का स्वरूप समझाते हैं—

उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गल परिअट्टओ मुणेअव्वो ।
तेणंता तीअद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा ॥५९॥

उत्सर्पिण्योऽनन्ताः, पुद्गलपरिवर्तनो ज्ञातव्यः ।
तेऽनन्ता अतीताद्धा, अनागताद्धानन्तगुणाः ॥५९॥

अर्थ—अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी बीत जाने पर एक पुद्गल परावर्त होता है । इस तरह के पुद्गल परावर्त अनन्त हो चुके हैं और अनन्त होने वाले हैं ।

नवतत्व जानने का फल

यह नवतत्त्व का विशेषार्थ समाप्त हुआ । भव्यजीव इन नवतत्त्वों का अभ्यास करके श्री जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का सम्यक् श्रद्धान करें और विशुद्ध आचरण रूप सम्यक् चारित्र का परिपालन करके मोक्ष पद प्राप्त करें । यही नवतत्त्वों को जानने का सार है ।

मति दोष से अथवा लेख दोष से अथवा प्रेस दोष से रही हुई भूल चूक के लिये "मिच्छामि दुक्कडं" देता हूँ। गम्भीर हृदय वाले सज्जन मेरे जैसे कृपापात्र अर्थ लेखक को क्षमा प्रदान कर अशुद्धियों को सुधार कर पढ़ेंगे, यही शुभाकांक्षा है। "सुज्ञेषु किं बहुना"।

(इत्यलम्)

ॐ शांतिः ! शांतिः !! शांतिः !!!

गाथायें—

जीवाऽजीवा पुण्णं, पावासवसंवरो य निज्जरणा ।
बंधो मुक्खो य तहा, नवतत्ता हुंति नायव्वा ॥१॥

चउदस चउदस बायालीस बासी य हुंति बायाला ।
सत्तावन्नं बारस चउ नव भेया कमेणेसिं ॥२॥

एगविह-दुविह-तिविहा चउव्विहा पंच छव्विहा जीवा ।
चेयणतस इयरेहिं वेयगइकरणंकायेहिं ॥३॥

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियरपणिंदिया य सबितिचउ ।
अपज्जत्ता पज्जत्ता कमेण चउद्दस जिअठाणा ॥४॥

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ॥५॥

आहार सरीरिन्दिय पज्जत्ती आणपाण भासमणे ।
चउ पंच पंच छप्पिय इग विगला सन्निसन्नीणं ॥६॥

पणिंदिय त्तिबलूसा-साऊ दस पाण चउ सग अट्ठ ।
इग-दु-ति-चउरिंदीणं असन्नि सन्नीण नव दस य ॥७॥

धम्माऽधम्माऽऽगासा, तिअ तिअ भेया तहेव अद्धा य ।
खंधा देस पएसा, परमाणु अजीव चउदसहा ॥८॥

धम्माऽधम्मा पुग्गल, नह कालो पंच हुंति अजीवा ।
चलणसहावो धम्मो थिर संठाणो अहम्मो य ॥९॥

अवगाहो आगासं, पुग्गल जीवाण पुग्गला चउहा ।
खंधा देस पएसा, परमाणू चेव नायव्वा ॥१०॥

सद्दंधयार उज्जोय, पभा छायाऽऽतवे इ अ ।
वन्न गंध रसा फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥११॥

एगा कोडी सतसट्ठि, लक्खा सतहुत्तरी सहस्सा य ॥
दो य सया सोलहिया, आवलिया इग मुहुत्तम्मि ॥१२॥

समयावली मुहुत्ता, दीहा पक्खा य मास वरिसा य ।
भणिओ पलिया सागर उस्सप्पिणी सप्पिणी कालो ॥१३॥

परिणामि जीव मुत्तं, सपएसा एगखित्त किरिया य ।
णिच्चं कारणकत्ता, सव्वगयइयर अप्पवेसे ॥१४॥

साउच्चगोयमणुदुग, सुरदुग पंचिंदिजाइ पण देहा ।
आइति तणूणुवंगा आइम संघयण संठाणा ॥१५॥

वण्णचउक्कागुरुलहु, परघा उस्सास आयवुज्जोयं ।
सुभखगइ निमिण तसदस, सुरनरतिरिआउतित्थयरं॥१६

तस बायर पज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च ।
सुस्सर आइज्ज जसं तसाइदसगं इमं होइ ॥१७॥

नाणंतरायदसगं, नव बीए नीयसाय मिच्छत्त ।
थावरदस नयरतिगं, कसाय पणवीस तिरिय दुगं॥१८॥

थावर सुहुम अपज्जं साहारणमथिरमसुमदुभगाणि ।
दुस्सरणाइज्जजसं थावरदसग विवज्जत्थं ॥१९॥

इगबिति चउजाईओ, कुखगइ उवघाय हुंति पावस्स ।
अपसत्थ वण्णचऊ अपढमसंघयण संठाणा ॥२०॥

इंदियकसाय अव्वय, जोगा पंच चउ पंच तिन्नि कमा ।
किरियाओ पणवीसं, इमाउ ताओ अणुक्कमसो॥२१॥

काइअ अहिगरणीया, पाउसिया पारितावणी किरिया ।
पाणाइवाइ रंभिय परिग्गहिया मायवत्तीया ॥२२॥

मिच्छादंसणवत्ती, अपच्चक्खाणी य दिट्ठी पुट्ठी य ।
पाडुच्चिय सामंतो-वणी अ नेसत्थि साहत्थी ॥२३॥

आणवणि विआरणिया, अणभोगा अणवकंखपच्चइया ।
अन्ना पयोग समुदाण पिज्जदोसेरियावहिया ॥२४॥

समिई गुत्ति परिसह जइधम्मो भावणा चरित्ताणि ।
पण-ति-दुवीस-दस-बार पंच भेएहिं सगवन्ना ॥२५॥

इरिया भासेसणादाणे, उच्चारे समिईसु अ ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती तहेव य ॥२६॥

खुहा पिवासा सीउण्हं, दंसा चेलारइत्थिओ ।
चरिया निसीहिया सिज्जा, अक्कोस वहजायणा॥२७॥

अलाभ रोग तणफासा, मलसक्कार परीसहा ।
पन्ना अन्नाण सम्मत्तं, इय बावीस परीसहा ॥२८॥

खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे ।
सच्चं सोअं अकिंचणं बंभं च जइधम्मो ॥२९॥

पढममणिच्चमसरणं, संसारो एगया य अण्णत्तं ।
असुइत्तं आसवसंवरो य तह णिज्जरा नवमी ॥३०॥

लोगसहावो बोही दुल्लहा धम्मस्स साहणा अरिहा ।
एयाओ भावणाओ, भावेयव्वा पयत्तेणं ॥३१॥

सामायियत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीअं ।
परिहारविसुद्धीअं सुहुमं तह संपरायं च ॥३२॥

तत्तो अ अहक्खायं, खायं सव्वम्मि जीवलोगंमि ।
जं चरिऊण सुविहिया, वच्चंति अयरामरं ठाणं ॥३३॥

बारसविहं तवो, निज्जरा य बंधो चउविगप्पो य ।
पयइठिइ अणुभाग पएस भेएहिं नायव्वो ॥३४॥

अणसणमूणोयरिया, वित्तिसंखेवणं रसच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥३५॥

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गो वि अ अब्भिंतरओ तवो होइ ॥३६॥

पयइ सहावो वुत्तो ठिई कालावहारणं ।
अणुभागो रसो णेयो, पएसो दलसंचओ ॥३७॥

पड पडिहाराऽसिमज्ज हडचित्तं कुलाल भंडगारीणं ।
जह एएसिं भावा, कम्माण वि जाण तह भावा ॥३८॥

इह नाणदंसणावरण, वेय मोहाउनामगोयाणि ।
विग्घं च पण नव दु अट्ठवीस चउ तिसय दु पणविह ॥३९॥

बारसमुहुत्त जहन्ना, वेयणिए अट्ठनाम गोएसु ।
सेसाणंत मुहुत्तं, एयं बंधट्ठिईमाणं ॥४०॥

नाणे अ दंसणावरणे, वेयणिये चेव अन्तराए अ ।
तीसं कोडाकोडी, आउट्ठिइबंध उक्कोसा ॥४१॥

सित्तरिकोडाकोडी मोहणीए वीस नाम गोएसु ।
तित्तीसं सायराइं आउट्ठिइबंध उक्कोसा ॥४२॥

संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्त फुसणा य ।
कालो अ अंतरं भाग-भावे अप्पाबहुं चेव ॥४३॥

संतं सुद्धपयत्ता विज्जंतं खकुसुमंव्व न असंतं ।
मुक्खत्ति पयं तस्स उ परूवणा मग्गणाईहिं ॥४४॥

नरगइ पणिंदि तस भव सन्नि अहक्खायखइयसम्मत्ते ।
मुक्खोऽणाहार केवलदंसणनाणे न सेसेसु ॥४५॥

गइ इंदिए य काए, जोए वेए कसाय नाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥४६॥

दव्वपमाणे सिद्धाणं जीवदव्वाणि हुंतिणंताणि ।
लोगस्स असंखिज्जे भागे इक्को य सव्वे वि ॥४७॥

फुसणा अहिया कालो, इग सिद्ध पडुच्च साइओणंतो ।
पडिवायाऽभावाओ सिद्धाणं अंतरं नत्थि ॥४८॥

सव्वजीवाणमणंते भागे ते तेसिं दंसणं नाणं ।
खइए भावे परिणामिए, अ पुण होइ जीवत्तं ॥४९॥

थोवा नपुंससिद्धा थीनरसिद्धा कमेण संखगुणा ।
इयमुक्खतत्तमेअं नवतत्ता लेसओ भणिया ॥५०॥

जिण अजिण तित्थऽतित्था गिहि अन्नसलिंग थीनरनपुंस ।
पत्तेसयंबुद्धाबुद्धबोहिक्कणिक्का य ॥५१॥

जिणसिद्धा अरिहंता अजिणसिद्धा पुंडरीयपमुहा ।
गणहारि तित्थसिद्धा अतित्थसिद्धा य मरुदेवी ॥५२॥

गिहिलिंग सिद्ध भरहो, वक्कलचीरी य अन्नलिंगम्मि ।
साहू सलिंगसिद्धा, थीसिद्धा चंदणापमुहा ॥५३॥

पुंसिद्धा गोयमाई, गांगेयपमुह नपुंसया सिद्धा ।
पत्तेय सयंबुद्धा, भणिया करकंडु कविलाई ॥५४॥

तह बुद्धबोहि गुरुबोहिया य इग समय एगसिद्धा य ।
इगसमये वि अणेगा सिद्धा तेणेग सिद्धा य ॥५५॥

जीवाइ नव पयत्थे जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं ।
भावेण सद्दहंतो अयाणमाणे वि सम्मत्तं ॥५६॥

सव्वाइ जिणेसरभासिआइ वयणाइं नन्नहा हुंति ।
इय बुद्धी जस्स मणे सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥५७॥

अंतोमुहुत्तं मित्तं पि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढपुग्गल-परिअट्टो चेव संसारो ॥५८॥

उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गलपरिअट्टणो मुणेयव्वो ।
ते णंता ती अद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा ॥५९॥

स मा प्त

परीक्षार्थियों से

शरीर के लिए खुराक जितनी आवश्यक वस्तु है आत्मा के लिए धार्मिक (आध्यात्मिक) शिक्षण उतना ही जरूरी है। धार्मिक-शिक्षा को व्यवस्थित रूप देने के लिए और शिक्षण सस्थाओं में एकता लाने के लिए ही श्री तिलोकरत्न स्थानकवासी जेन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी की स्थापना हुई है। संस्थाएँ परीक्षा बोर्ड में अधिकाधिक सख्या में छात्रों को सम्मिलित करा रही हैं और छात्र भी इस दिशा में विशेष उन्साह दिखा रहे हैं, यह समाधान का विपय है। परीक्षार्थियों की सुविधा के लिए बोर्ड ने पुस्तक-प्रकाशन विभाग स्थापित किया है। अब तक इस विभाग से निम्न लिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

१	प्रवेश परीक्षोपयोगी पाठ्य पुस्तक	।)
२	प्रथमा परीक्षा प्रथम पत्र का पाठ्य ग्रन्थ	।≡)
३	प्रथमा परीक्षा पाठ्य ग्रन्थ भाग २	।=)
४	सोलह सतियाँ	॥)
५	जैन तत्त्वदीपिका	॥)
६	नवतत्त्व सार्थ	॥)
७	कर्म प्रकृति का थोकड़ा	–)

मन्त्री:—पुस्तक-प्रकाशन विभाग

श्री तिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड,

पाथर्डी (अहमदनगर)